REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ८ } श्रावन सं० १९८६ अगस्त १९२९ { अंक ४

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक बन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—

ब्रह्मचारी विष्णु

वार्षिक मूल्य ३)　　बेलनगंज—आगरा।　　एक प्रति का मूल्य ।-)

विषयानुक्रमणिका ।

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१—वेदान्त डोड़ी (पद्य)	९७	६—वाक्य सुधा	११७
२—बंध और मोक्ष	९८	७—आत्मोपदेश	१२२
३—हेय और हेय हेतु	१०४	८—नारद परिव्राजकोपनिषत्	१२३
४—श्रीगुरु	११०	९—ब्रह्म सूत्र भाषा दीपका	१२६
५—अहंकार	११४		

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता है ।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।–) नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है ।

(५) जिन ग्राहकों के पास पत्र न पहुँचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अङ्क लेने होंगे ।

(७) चिट्ठी लिखते समय प्रत्येक ग्राहक को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।



वेदान्त केसरी

पुस्तक ८ } श्रावन सं० १९८६ । अगस्त १९२९ { अङ्क ४

वेदान्त डोंड़ी ।

इन्द्र वज्रा छन्द ।

(१)

वेदान्त शोधा स्वस्वरूप चीन्हा ।
कामादि जीते सम मृत्यु जीना ॥
है शान्त सो ही सब से सुखी है ।
वेदान्त डोंड़ी कहती यही है ॥

(२)

ब्रह्मांड सारा घर है बनाया ।
निःशंकता आसन है जमाया ॥
तत्त्वज्ञ सो ही यति भी वही है ।
वेदान्त डोंड़ी कहती यही है ॥

(३)

संसार नाहीं दुःख लेश नाहीं ।
हो दुःख कैसे सुख सिंधु मांहीं ॥
अज्ञान स्वप्ना तज शीघ्र दीजे ।
वेदान्त डोंड़ी सुन मित्र लीजे ॥

(४)

है चाह खोटी जग में घुमाती ।
तृष्णा बढ़ाती सब को रुलाती ॥
ब्रह्मादि मिथ्या पद त्यागियेगा ।
वेदान्त डोंड़ी सुन लीजियेगा ॥

(५)

धर्मादि कोई नहिं आत्म मांही ।
ध्यानादि होते सब अन्य मांहीं ॥
विज्ञान या ज्ञान कहा न जावे ।
वेदान्त डोंड़ी हम को सुनावे ॥

(६)

माया मरी का सब है पसारा ।
है ब्रह्म आत्मा सम सर्व प्यारा ॥
सो ब्रह्म न्यारा तुम से नहीं है ।
वेदान्त डोंड़ी कहती यही है ॥

(७)

क्या चाहता है किस खोज में है ।
तू साध्य साक्षी सब विश्व में है ॥
ना मोक्ष ना बंध न विश्व ही है ।
वेदान्त डोंड़ी कहती यही है ॥

(८)

है मुक्त क्यों बंधन मानता तू ।
अंधा बना क्यों बन सूझता तू ॥
सच्चित् तुही है सुख सिंधु भी है ।
वेदान्त डोंड़ी कहती यही है ॥

बन्ध और मोक्ष ।

(गतांक से आगे)



मनुष्य ने देखा कि केवल मैं ही बन्धन में नहीं हूं। जितने मनुष्य पशु पक्षी हैं वे सबही मेरे समान बन्धन में पड़े हैं वे दूसरों को बांधते हैं और दूसरे उन्हें बांधते हैं. इस जगत का व्यवहार ही ऐसा है क्या किया जाय. ऐसा विचार करते हुए भी अन्य मनुष्य और पदार्थों की तरफ राग अथवा द्वेष से देखते थे और बन्धन पर बन्धन को प्राप्त होते थे। दूसरों से वह बन्धता था और दूसरों को वह भी बान्धता था, दूसरों को वह खेंचता था और दूसरे उसे खेंचते थे तब दूसरों की तरफ खिंच जाता था, दुखी होता था और दूसरों को बान्धकर अपनी तरफ खेंचने में प्रसन्न होता था। कभी रोआ पीटी होय, कभी खुशी होय, खुशी के समय में बन्धन दुखदायक है यह बात भूल जाता था और भूल करके बारम्बार बन्धन में पड़ता जाता था। इस प्रकार वहां के सब मनुष्यों का हाल था, उस मनुष्य ने इस प्रकार बहुत समय यहां व्यतीत किया।

वह मनुष्य जब कभी अत्यन्त कष्ट से दुखी होकर कुछ निर्मल बुद्धि से देखता था तब कोई २ मनुष्य उसे बन्धन रहित दीखते थे। अपनी शान्ति के लिये वह उनके पास जाता था और बन्धन में से निवृत्त होने का—शान्ति प्राप्त करने का उपाय पूछता था। बन्धन रहित महापुरुष जो कुछ हित के उपदेश देते थे उनका असर केवल संत के सामने रहने तक ही रहता था, सन्त की नजरसे बाहर होते ही उपदेश का असर हट जाता था और पहले के समान जैसा का तैसा ही संसारिक रागद्वेष की भावना से भर जाता था। एक दिन प्रथम वाले योगीराज उसके पास आये परन्तु वह योगीराज को पहिचान न सका तो भी हाथ जोड़ कर बोला, धन्य है आपको हम सब बन्धन में हैं आप बन्धन रहित हैं

योगीराजः—हे मनुष्य, तू मुझे पहिचानता है या नहीं ? तू मेरे पास उपदेश ग्रहण करने को आया था और बन्धन का इन्द्रिय प्रत्यक्ष करने को चाहता था मैंने ही तुझे यह सब बन्धन का प्रत्यक्ष कराया है।

मनुष्यः—(आश्चर्य से) क्या मैं आपके पास प्रथम आया था ? मुझे याद नहीं है, कोई और होगा आप भूल तो नहीं गये हैं।

योगीराजः—(मनमें)आ हा हा ! अविद्या की कितनी प्रबलता है। थोड़ी देर हुई है, एक दिन भी पूरा नहीं हुआ। यह मनुष्य प्रथम का सब हाल भूल गया है, बन्धन में बन्धनमय हो गया है; (मनुष्यको) तू बन्धन से मुक्त होना चाहता है ?

मनुष्यः—मैं मुक्त होकर क्या करूंगा ? मैं यहां ही जन्मा हूं यहां ही मरूंगा अब यहां से मुक्त होकर कहां जाऊंगा ।

योगीराज विचारने लगे कि हाय ! अविद्या तैंने इसको अपने में पूर्ण लय कर रखा है ऐसी हालत में इसको दिया हुआ सदुपदेश का कुछ भी फल नहीं होगा, अब इसके ऊपर से माया जाल हटा कर इसको जाग्रत करना चाहिये ऐसे विचार कर मनुष्य के मस्तक पर हाथ फेरा, योगीराज के हाथ फेरते ही सब संसार मेला अदृश्य होगया, मनुष्य को अपने पूर्व संसार की स्मृति हो आई और योगीराज से हाथ जोड़ कर कहने लगाः—

मनुष्यः—महाराज मैंने क्या क्या देखा वाह! आपने वन्धन का ठीक इन्द्रिय प्रत्यक्ष कराया मैं तो वहां दुःख के मारे मर रहा था, यह सब मेला क्षण भर में कहां गया! क्या सब झूठा था! अरे! वहां तो सच्चा ही मालूम होता था। दुःख भी सच्चा ही मालूम होता था कैसा आश्चर्य!

योगीराजः—तू दुखी कहां होता था! तुझे तो वहां ही रहना पसंद था मैंने तुझ से पूछा था तव तूने उत्तर दिया था कि हम कहां जायँगे यहां ही जन्मे हैं यहां ही मरेंगे, जा वहां ही जन्माकर और मराकर।

मनुष्यः—वहां तो मेरी बुद्धि भ्रष्ट होगई थी वहां मुझे सारासार का विचार भी न था वहां में क्या कर सकता था! अव मुझे मालूम होता है कि वह सव धोखा था, परन्तु वहां ऐसा मालूम नहीं होता था। मैं वहां से किस प्रकार निकल सकता था, वहां अनेक प्रकार की आसक्ति में ही लगा रहता था, आपने ही कृपा करके मुझे चेत कराया है।

योगीराजः—तुझे जो देखना था सब देख लिया तैंने इन्द्रियों से न दीखने वाले वन्धन को भी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष कर लिया, अव तू क्या कहता है? तैंने जो देखा है वही इस संसार में है वहां से यहां न्यून और अधिक कुछ भी नहीं है। तुझे वहां वन्धन दीखता था यहां दीखता नहीं है। यह संसार ही वन्धन है दुःख रूप है ऐसा दृढ़ता से समझना चाहिये।

मनुष्यः—विचार करने से दोनों समान ही हैं। इस संसार में वैसा ही वन्धन है तो भी यहां इतना कष्ट क्यों मालूम नहीं होता, कष्ट के बाद सुख का भोग भी तो होता रहता है।

योगीराजः—यह तेरी मलिनता ही है, इस संसार में दुःख ही दुःख है सुख किन्चित भी नहीं है, तू जिसे सुख कहता है वह दुःख ही है, अज्ञान से ही दुःख में सुख का भास होता है। जव तक यह संसार संपूर्ण दुःखरूप है ऐसा दृढ़ निश्चय न होय तव तक तू मुमुक्षु नहीं है, मुमुक्षुत्व विना परम पद की प्राप्ति का अधिकारी भी नहीं है तैंने मुझसे प्रथम ही प्रतिज्ञा की थी कि आप जैसे कहोगे मैं वैसा ही करूंगा। बारंवार विचार करके निश्चय कर कि संसार दुःख रूप ही है। मेरे और शास्त्र के वचन के अनुसार संसार और संसार के पदार्थों में से ममत्व निकाल दे। राग द्वेष और ममता से ही बन्धन होता है यह सब तुझे दिखला दिया है फिर भी दुःख और वन्धन के हेतु आसक्तियों को क्यों नहीं छोड़ता? जब तक कोई मनुष्य मार्ग नहीं जानता तव तक सज्जन पुरुष के वचन पर विश्वास करके मार्ग में चलता है ऐसी श्रद्धा करने से ही कार्य होता है इस प्रकार परम पद के मार्ग में चलने के लिये दुःख और दुःख के हेतु आसक्ति को छोड़।

मनुष्यः—आपके कथन के अनुसार मैं बर्ताव करने को तय्यार हूं। संसार दुःख रूप है यह जान गया हूं फिर भी मुझ से त्यागा नहीं जाता, आप उसका यत्न बतलाइये।

योगीराजः—अभी तुझ में राग द्वेष बहुत है प्रथम ज्ञान का अधिकारी बनना चाहिये। अन्तःकरण की शुद्धि विना संसार से वैराग्य नहीं होता इसी कारण तुझे कुछ समय मेरे पास रहना होगा, यहां रहने से अन्तःकरण की शुद्धि जल्दी होगी। जगत के पदार्थ में जहां जहां चित्तवृत्ति राग युक्त मालूम होय वहां वहां तिरस्कार करना—उसके ऊपर वैराग्य करना, और बारंवार यह भाव करना कि "न मैं देह हूं न देह मेरी है" ऐसी भावना से जगत और उसके पदार्थ में वैराग्य दृढ़ होने लगेगा।

कभी दोष दृष्टि से वैराग्य को स्थिर कर और कभी आत्मभाव से जगत में वैराग्य को धारण कर। ज्ञान के अधिकारी के लक्षणों से युक्त हो।

योगीराज के कहने के अनुसार मनुष्य छः मास तक योगीराज के पास रहा और तन मन से योगीराज की सेवा करता हुआ जिस प्रकार वर्ताव करने को कहा था वैसे ही वर्ताव करता रहा। योगीराज के यहां जो सतसंग होता था उसे प्रेमपूर्वक सुना करता था और उसका मनन करके हृदय में टिकाने का प्रयत्न करता था। थोड़े समय में उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ यानी वह मनुष्य एक प्रकार से बदल गया उसने मन के साथ युद्ध करके विजय प्राप्त की थी। संसार के आसक्तियुक्त भाव की मृत्यु होकर शुद्ध—आत्मिक भाव का अंकुर पैदा हो गया देख कर योगीराज ने विशेष उपदेश देने के लिये पास बुलाया और कहाः—

योगीराजः—मैं समझता हूं कि अब तेरा अन्तःकरण शुद्ध हुआ है, तू परमपद के उपदेश का अधिकारी बना है। तू समझना चाहता है मुझसे समझ।

मनुष्यः—(हाथ जोड़ कर) आपकी मुझ पर महान् कृपा हुई है। आप परमपद को समझाइये। आपके समागम से बहुत सी बातों का बोध मुझे हो गया है परन्तु मैं विशेषता से परमपद को जानना चाहता हूँ।

योगीराजः—परमपद मन बुद्धि और इन्द्रियों का अविषय है तो भी शुद्ध बुद्धि वालों से न समझा जाय ऐसा नहीं है। तू इतना ही निश्चय कर कि ब्रह्माण्ड में जितने सुख हैं उन सबसे अधिक **सुख का खजाना परमपद है,** जैसा सुख परमपद में है वैसा अथवा उस प्रकार का किंचित सुख ब्रह्माण्ड भर के ऐश्वर्य में नहीं है। ब्रह्माण्ड का सुख, दुख की अपेक्षा सहित ही होता है। परमपद का सुख, दुःख की अपेक्षा रहित है, उससे विलक्षण है, अखंड है अपना आप है और विकार रहित है।

मनुष्यः—जगत मिथ्या है, वास्तविक नहीं है, दुःख रूप है ऐसा समझ कर मैं वैराग्य के भाव को दृढ़ कर रहा हूँ परन्तु मन को परब्रह्म में टिकाव रूप सहारा न मिलने से वारंवार अनात्म की तरफ दौड़ता रहता है मैं वहां से उसे लौटा लाता हूँ फिर भी भागता ही रहता है प्रथम के समान अधिक जोर अब नहीं है तो भी उसे टिकने का स्थान मिल जाय तो भागना रुक जाय। परमपद मन वाणी का अविषय है तो भी गुरु लोग युक्ति और शब्द से समझा सकते हैं।

योगीराजः—जो अन्तिम स्थान-पद है जो सबसे परम है उसे परम पद कहते हैं और जितने स्थान हैं वे सब न्यूनाधिक समय तक रहने वाले होते हैं और उत्पत्ति नाश वाले भी होते हैं परमपद ऐसा नहीं है एक रस और अखंड है इसीसे उत्पत्ति नाश से भी रहित है; जहां काल की भी गम नहीं है उसे परमपद समझ। मन बुद्धि और इन्द्रियों का अविषय होते हुए भी मन बुद्धि और इन्द्रियों का प्रकाशक है ऐसे ही माया और माया के सम्पूर्ण प्रकट और अप्रकट कार्य का प्रकाशक है। अखंड एक रस होने से न्यूनाधिक प्रकाश से विलक्षण परमपद है। जो चैतन्य जगत में दीखता है और जो जड़ दीखता है सबमें वह रहा हुआ है या उसमें रहा हुआ सब संसार और संसार के पदार्थ हैं, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर का भान जिस समय नहीं है और जो सबके अबोध में स्वयम् अबोध

रहित है वह परम तत्त्व है, परमपद है, सबकी एकता ही परमपद है। समाधि में बुद्धि समभाव को प्राप्त होती है तब समसत्ता स्वरूप बोध शेष रहता है यह ही परमपद है। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि समभाव को प्राप्त नहीं होती वहां बुद्धि अपने कारण अज्ञान में लय होती है इसीसे वहां अद्वैत होते हुए भी परमपद नहीं कहा जाता। सुषुप्ति अबोध रूप है और समाधि बोध स्वरूप है। समाधि में रहा हुआ सामान्य चैतन्य परमपद है और सुषुप्तिमें तो अविभज्य (जिसका भाग न हो सके) ऐसी अविद्या का साम्राज्य होता है।

सब प्रकार के भेद रहित जो अस्तित्व है वह परमपद है, भेद मायिक है और मायिक भेद के कारण जगत और उसके पदार्थों में भिन्न २ अस्तित्व मालूम होता है यह भिन्नता अविद्या का कार्य है। मायिक पदार्थों में से भी मायिक भिन्नता को छोड़ कर अखंड अस्तित्व को समझना परमपद है। वह एक ही है माया के अनेक पहलों से अनेकता दीखती है। जैसे एक स्थान पर दीपक जलता हो, उसके सामने दस पहलू का एक कांच रखा जाय तो उसमें से दस दीपक दीखते हैं और दस कांच के भिन्न २ रंग के प्रकाश में रंग भी भिन्न २ मालूम होते हैं इसी प्रकार परब्रह्म स्वरूप एक ही अस्तित्व का माया और उसके पहलों से संसार में अनेकता का भास होता है। परब्रह्म स्वरूप एक ही अस्तित्व का ग्रहण करना परम बोध है। मायिक दृष्टि के बाध से जो शेष रहता है वह बोध स्वरूप रहता है यह प्रत्येक का शुद्ध अभिन्न प्रत्यगात्मा है।

जैसे सब प्रकार के मृतिका के पात्रों को देखते हुए तत्त्वरूप मृतिका का ही बोध होता है इसी प्रकार जगत को देखते हुए सूक्ष्म बुद्धि से परब्रह्म का बोध हो सकता है, जैसे पात्र मृतिका की आकृति विशेष है ऐसे जगत भी परम तत्त्व में आकृति विशेष का भास वाला है। ज्ञान; ध्यान, तपश्चर्या और अनेक प्रकार की योग की क्रियाओं से अन्तिम परम तत्त्व का ही बोध होता है। जिस ज्ञान से अपने स्वरूप से अभिन्न परम तत्त्व का बोध न होय वह ज्ञान नहीं है। जिस ध्यान से लौकिक भाव हटकर परम तत्त्व में बुद्धि का प्रवेश न होय वह ध्यान नहीं है, जिस तपश्चर्या से जगदासक्ति की रूप मलिनता की निवृत्ति न होकर परम पद की प्राप्ति न होय वह तपश्चर्या नहीं है कष्ट है। योग क्रियायें करते हुए स्वस्वरूप के बोध सहित टिकाव न होय तो वह परब्रह्म का योग नहीं है जगत का योग है और परब्रह्म से तो वियोग ही है। जैसे कोई बड़ा चक्र अनेक प्रकार के भेद सहित घूमता होय वहां के किसी भी स्थान से और भेद से उसकी आधार-धुरी एक ही होती है ऐसे ही यह संसार रूप चक्र की धुरी परम तत्त्व है और एक ही है जो उसे जानता है वह ज्ञानी है और उसे न जानकर सबको जानता है वह अज्ञानी है, और उसका यह जानना अज्ञान के चश्मे से है यह अज्ञान होने से ज्ञान—आत्म बोध का फल उसे नहीं होता। जगत में जो जो दृश्य और अदृश्य पदार्थ हैं ये सब परम तत्त्व में आधेय हैं, इन आधेय का बाध कर आधार ग्रहण करना इन सबका आधार ही परम तत्त्व है जगत के सब पदार्थ एक का आधार और वह ही दूसरे के आधेय होते हैं परन्तु परम तत्त्व कभी भी किसी का आधेय नहीं होता इसी से वह परम आधार कहा जाता है और शुद्ध विवेक दृष्टि से देखा जाय तो वह किसी का आधार भी नहीं है क्योंकि एक कक्षा के पदार्थों में आधार और आधेय कहा जाता है। जहां पदार्थ ही नहीं है

केवल माया का भास है वहां वस्तु स्वरूप तत्त्व को उनका आधार कहना युक्त नहीं है। जैसा कि तुझे समझाया है इस प्रकार लक्ष को पहुँचा कर परम तत्त्व को हृदय में स्थिर कर, मन की चंचलता दूर करने के लिये परम तत्त्व की वारंवार यादकरना चाहिये, परम तत्त्व की विशेषता युक्त स्मृति उपयोगी होती है जब जब मन चंचल होकर दौड़े तब तब परम तत्त्व की स्मृति खड़ी करदे ऐसा करने से मन के पैर टूट जाते हैं और रजो तमोगुण निवृत्त होते हैं। मन की चंचलता जगत की सत्यता से और परम तत्त्व की विस्मृति से होती है। जिस पुरुष को जगत में कभी भी सत्यता का भान नहीं होता उसका मन रोगी मनुष्यों के समान कमजोर होकर चेष्टा करता है उसका मन प्रपंच की ओर राग द्वेष युक्त प्रवृत्ति नहीं करता मन निर्जीव होकर चेष्टा करता है यानी अब मन की चेष्टा वन्धन के हेतु नहीं होती। ज्ञान के पश्चात् जीवन्-मुक्त पुरुष का मन इस प्रकार अमन होकर ही बर्तता है।

स्वस्वरूप का वोध न होना अज्ञान है, अज्ञान ही वन्धन स्वरूप है उसमें होने वाले रागद्वेष वन्धन के कष्ट को भुगवाते हैं, अपने अज्ञान से जीव को कष्ट भोगना पड़ता है, अज्ञान से ही मन विषयों की तरफ दौड़ता है। स्वरूप का बोध ज्ञान है, आत्मा के विशेष वोध को ज्ञान कहते हैं, आत्मा के विशेष वोध से अज्ञान की निवृत्ति होती है अज्ञान की निवृत्ति से अज्ञान के काम क्रोधादिक द्वारा होने वाले संपूर्ण कष्टों की निवृति होती है।

मनुष्यः—आपने वन्धन और मोक्ष को संक्षेप से समझाया। अब मेरा यह प्रश्न है कि सब लोगों की अधिक प्रीति वन्धन के कार्यों में ही क्यों होती है? सुख, आनंद और प्रियता जैसी संसार में मालूम होती है वैसी मोक्ष में क्यों नहीं होती?

योगीराजः—अज्ञान से लोगों को जिसमें सुख नहीं है ऐसे संसार में सुख का भास होता है, अज्ञानी को मोक्ष स्वरूप प्राप्त ही नहीं है तब उसमें किस प्रकार का आनंद है यह कैसे जाने, ज्ञानी पुरुष ने मोक्ष सुख का अनुभव किया है परन्तु अज्ञानिओं को वे भी समझा नहीं सकते इसीसे सामान्यता से संसार में प्रीति और मोक्ष में अप्रीति-अन्धेरा होता है। नकली वस्तुऐं अत्यन्त शोभा वाली और चमकीली दीखती हैं उनके साथ में सच्ची वस्तु रखी हों तो तुच्छ मालूम होती हैं, परन्तु सच्चे झूठे को यथार्थ समझने वाला पुरुष झूठे चमक दमक में लुभाता नहीं वह झूठे को छोड़ कर सच्चे को ही ग्रहण करता है। इस प्रकार अज्ञानी मनुष्य संसार की चमक दमक में लुब्ध होते हैं और ज्ञानी पुरुष संसार को विनाशी तुच्छ समझ कर संसार और संसारिक पदार्थों में प्रेम नहीं करते परन्तु जैसे सब स्थान में जवाहरात की खानें नहीं होतीं और सब खानों में कीमती जवाहरात भी नहीं होते किसी खान में क्वचित कोई बहुमूल्य रत्न निकलता है, इसी प्रकार संसार में मोक्ष के अधिकारी भी बहुत थोड़े होते हैं। मोक्ष में सुख, आनंद, प्रियता विशेष का अनुभव तो स्वस्वरूप में टिके हुए पुरुषों को ही होता है।

मनुष्यः—मोक्ष सुख का वर्णन जैसा बन सके कृपया शब्दों द्वारा प्रगट कीजिये।

योगीराजः—जगत में दुःख की विशेषता है मोक्ष में दुःख की गंध भी नहीं है। संसार का सुख, दुःख मिश्रित और उत्पत्ति नाश वाला है, वास्तविक

देखा जाय तो यह सुख भी दुःख ही है, दुःख को उत्पन्न करने वाला है। मोक्ष में सुख ही सुख है दुख की अपेक्षा रहित सुख है, अखंड है और उत्पत्ति नाश रहित है; वहां भोक्ता की पृथक्ता नहीं है तो भी आनंद है। उस आनंद का लौकिक भाव से कथन न होते हुए भी आनंद ही आनंद है। संसार में विषयानंद का भास है और मोक्ष में निर्विषय स्वस्वरूपानंद है एक रस है।

मनुष्यः—यदि वहां पृथक्ता ही नहीं है तो आनंद को भोगेगा कौन? भोक्ता विना आनंद का होना और न होना समान है। व्यक्तित्व रहित में क्या सुख होगा? मैं समझ गया हूं फिर भी दृढ़ता के लिये पूछता हूं।

योगीराजः—मोक्ष दो प्रकार के हैं, ब्रह्मलोक की प्राप्ति रूप मोक्ष और ब्रह्म निर्वाण रूप मोक्ष। ब्रह्मलोक में जीव का व्यक्तित्व अर्थात पृथक् अस्तित्व है तोभी मोक्ष कहा जाता है क्योंकि वहां से लौट कर जन्म धारण करना नहीं पड़ता, वहां का व्यक्तित्व, ज्ञान सहित होने से फल अव्यक्त का ही होता है और ब्रह्म निर्वाण तो स्पष्ट अव्यक्त स्वरूप ही है। ब्रह्म लोक की प्राप्ति रूप मोक्ष में भी इच्छा से व्यक्त और इच्छा के अभाव में अव्यक्त है, उसमें इच्छा से ही उत्थान है और यह दशा भी कुछ समय ही रहती है, अन्त में ब्रह्मा के साथ ब्रह्म निर्वाण हो जाता है जो संपूर्ण अव्यक्त स्वरूप है क्योंकि वास्तविक तत्त्व अव्यक्त स्वरूप ही है यहां अव्यक्त का कथन व्यक्तिभाव वाले को समझाने के लिये किया हैं वास्तविक परमपद तो व्यक्ताव्यक्त से विलक्षण परम अव्यक्त है।

"तू कहता है कि भोक्ता विना सुख नहीं है सुख को कौन भोगेगा" यह तेरा कथन मिथ्या है अज्ञानी इस प्रकार कहा करते हैं। निर्वाण में व्यक्तित्व नहीं है तो भी वहां सुख ही सुख है, सुख के समुद्र में एकता को प्राप्त होते हैं। व्यक्ति भाव से युक्त जीव जिसमें वास्तविक सुख नहीं है उसे सुख समझ कर भ्रान्ति में भोक्ता होता है परमपद व्यक्तित्व जिसमें पृथक् नहीं है ऐसा स्वरूप होते हुए भी महाभोक्ता होता है।

व्यक्ति भाव में सुख नहीं है लोग भ्रान्ति से उसमें सुख समझते हैं. सच्चा सुख अव्यक्त ही है। तू कहे कि अव्यक्त सुख को कोई नहीं चाहता तो यह तेरा कहना व्यर्थ है। अज्ञान की हालत में भी सब कोई अव्यक्त सुख को चाहते हैं अबोध ऐसी सुषुप्ति अवस्था में रहे हुए अव्यक्त आनन्द को सव चाहते हैं वहां आनन्द और भोक्ता दोनों ही अव्यक्त हैं। जब यह सुषुप्ति का अव्यक्त आनन्द नहीं मिलता तब जीव व्याकुल होते हैं और अनेक प्रकार के प्रयत्न करके भी सुषुप्ति के अव्यक्त आनन्द को प्राप्त करते हैं। व्यक्ति भाव में जो सुख का आभास प्रतीत होता है उसका खजाना अव्यक्त में रहा हुआ आनन्द स्वरूप ही है। उस अव्यक्त स्वरूपानन्द के किंचित अंश से ब्रह्मांड आनन्दित होता है।

सुषुप्ति अवस्था जाग्रत और स्वप्नावस्था के परिश्रम का निवृत्ति स्थान है यहां विषय न होते हुए भी आनन्द है। दबे हुए भोक्ता से—भोक्ता के अभाव में भी सुख हैं जैसे सब अज्ञानी लोग उस सुख को चाहते हैं वैसे ही ज्ञानी पुरुष अव्यक्त में सर्वोच्च सुख को समझते हैं। ज्ञानीयों के समझने में आया हुआ अनुभव स्वरूप वास्तविक अखंड सुख है उस सुख का कभी भी अन्त नहीं होता और अज्ञानी तो अव्यक्त आत्मा के बोध से रहित होने से द्वैत में से हटना नहीं चाहते—घबड़ाते हैं अभय में भय को

देखते हैं सुख स्वरूप में जड़ होने की कल्पना करते हैं।

जगत और जगत के पदार्थों से एकमेक होना अज्ञान है, स्वस्वरूप का ज्ञान न होना अज्ञान है, अद्वैत में द्वैत का भान होना अज्ञान है, अपने को व्यक्ति समझना अज्ञान है, भ्रान्ति ही अज्ञान है, कुछ का कुछ समझना अज्ञान है और अज्ञान ही बन्धन है। अज्ञान से छूटना बन्धन से छूटना है, स्वस्वरूप के बोध से अज्ञान और अज्ञानकृत बंधन निवृत होते हैं। अज्ञान से छूटना मोक्ष है, जगत और जगत के कष्टों से हमेशा के लिये छूटना मोक्ष है; स्वस्वरूप को अपरोक्ष रूप से जान जाना ज्ञान है। उसको ही आत्म ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान, तत्त्व ज्ञान अथवा आत्म बोध, तत्त्व बोध कहते हैं और जाने हुए स्वस्वरूप में टिकना परमपद है, व्यक्तित्व टूट कर सबके आधार स्वरूप में लय होना परमपद है यह ही सर्वोच्च गति है।

अविद्या, माया (जगत) दुःख रूप है, मोक्ष सुखरूप है, शरीर के साथ अहंभाव का उत्थान जीव भाव है, शरीरादिक के भाव में "मैं हूँ" ऐसा भाव बन्धन है और शरीरादि के दृश्य को भास मात्र समझकर उसमें अहंभाव को न करना और अविभक्त आत्म स्वरूप "मैं हूँ" ऐसा बोधहोना मोक्ष है। तनमन और धन आदि से लेकर किसी प्रकार की भी चिन्ता, स्वस्वरूप में टिकने वाले को नहीं होती इससे वहां चिन्ता रहित आनन्द है शरीर कुटुम्ब और मेरा तेरा भाव न होने से स्वरूप में टिकने वाले को कोई भी कष्ट नहीं होता, कष्ट के अभाव में आनन्द ही है। मोक्ष स्थिति में द्वैत का अभाव होने से दूसरों से होने वाला कष्ट नहीं होता इसीसे वहां आनन्द है। स्वस्वरूप में टिकने वाले को माया-अविद्या अपनी तरफ घसीट नहीं सकती इसीसे आनन्द है। परमपद, सबका अपना स्वरूप होने से और अद्वैत होने से रागद्वेष से रहित है इसीसे आनन्द है। परमपद में टिकने वाले को शास्त्रोक्त कर्म उपासना और ज्ञान की समाप्ति हो जाने से कर्तव्य के अभाव में आनन्द ही है। भोक्ता भोग्य और विषय के अभाव में भी परमपद में आनन्द है।

योगीराज के उपदेश को मनुष्य ने ग्रहण किया थोड़े समय में ही शुद्ध होकर साक्षात्कार करके सब प्रकार की विपत्तियों से रहित हुआ आनन्द मग्न हुआ, जब तक प्रारब्ध शेष था तब तक शरीर से निरभिमान चेष्टा होती रही और शरीरान्त में ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त हुआ।

हेय और हेय हेतु।

(गतांक से आगे)

यहां तक दृश्य का निरूपण किया, अब दृष्टा के स्वरूप का निश्चय करने के लिये सूत्रकार कहते हैं:—द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययाऽनुपश्यः ॥' (२।२०) अर्थः—समस्त धर्मों से रहित चेतन मात्र ज्ञान स्वरूप पुरुष द्रष्टा कहलाता है, यद्यपि यह दृष्टा स्वभाव से ज्ञान का आधार न होने से शुद्ध ही है तो भी प्रत्यय संज्ञक बुद्धि के धर्म—ज्ञान को अनुसरण करके ज्ञान का आधार कहा जाता है। यानी यद्यपि पुरुष ज्ञानस्वरूप ही है तो भी बुद्धि रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर उस बुद्धि के धर्मभूत ज्ञान का आधार प्रतीत होता है इसलिये बुद्धि वृत्ति का अनुकारी होने से यह पुरुष 'प्रत्ययानुपश्य' कहा जाता है, अनुकारी का अर्थ तदाकारधारी है

भाव यह है कि बुद्धि की वृत्ति चैतन्य प्रतिविम्ब ग्राहिणी, विषयाकार, तथा ज्ञानाधार होती है इस लिये हृदविभागापन्न यानी बुद्धि के साथ अभिन्नता को प्राप्त हुआ पुरुष भी ज्ञान का आधार प्रतीत होने लगता है, वस्तुतः पुरुष किसी धर्म का आश्रय नहीं है, क्योंकि वह साक्षो रूप है।

यह दृशिमात्र चेतनभूत पुरुष न तो बुद्धि के समान रूप वाला है और न अत्यंत विभिन्न रूप वाला है यानी यह पुरुष बुद्धि से विलक्षण है क्योंकि ज्ञात अज्ञात विषय वाली होने से बुद्धि परिणामिनी है और सदा ज्ञात विषय वाला होने से पुरुष अपरिणामो है। यानी बुद्धि के विषयभूत जो गो, घट पदादि पदार्थ हैं, वे कभी ज्ञात होते हैं और कभी अज्ञात होते हैं और पुरुष का विषयभूत जो बुद्धि तत्त्व है, वह सदा पुरुष को ज्ञात ही रहता है इस लिये बुद्धि सदा एक रस न रहने से परिणामिनी है और पुरुष सदा एक रस होने से अपरिणामी है इसलिये दोनों विलक्षण हैं। इसी प्रकार संहत्यकारकत्व होने से बुद्धि पदार्थ है और पुरुष स्वार्थ है इसलिये भी दोनों विलक्षण हैं। भाव यह है कि क्लेश, कर्म, वासना तथा विषयेन्द्रियादि से संहत्य मिल कर पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये प्रवृत्त होने से बुद्धि संहत्यकारिणी है क्योंकि जो २ जड़ पदार्थ मिल कर किसी कार्य्य को संपादन करते हैं, वे अन्य के लिये ही होते हैं। जैसे शयन, आसन गृहादि जड़ पदार्थ मिल कर पुरुष के भोग के साधन होने से पुरुषार्थ कहे जाते हैं इसी प्रकार बुद्धि भी मिल कर कार्य्य करने से परार्थ है और पुरुष असंहत—केवल होने से स्वार्थ है। बुद्धि पुरुष में और भी विलक्षणता है। शांत, घोर मूढाकार को परिणत हुई बुद्धि शान्त, घोर मूढ़ पदार्थोंविषयक निश्चय करने वाली होने से त्रिगुणात्मक तथा अचेतन है और पुरुष गुणों का उपद्रष्टा मात्र होने से गुणातीत और चेतन है इसलिये ये दोनों विलक्षण हैं और विलक्षण होने से असरूप हैं। पुरुष बुद्धि में प्रतिविम्बित मात्र हुआ ही प्रकाशता है, तदाकार से परिणत नहीं होता इसलिये उपद्रष्टा है। इतना कहने से यह भी न समझना चाहिये कि ये दोनों अत्यंत विरूप हैं क्योंकि पुरुष प्रत्ययानुपश्य है यानी बुद्धि वृत्ति रूप ज्ञान को प्रकाशता हुआ बुद्धि वृत्ति स्वरूप न होने पर भी बुद्धि वृत्ति स्वरूप से भान होता है।

'अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद् वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रह रूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारिमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते।'

इस वाक्य से पंच शिखाचार्य ने भी बुद्धि वृत्ति के अनुकार से पुरुष को द्रष्टा कहा है। अर्थ इस वाक्य का यह है:—अपरिणामो भोक्तृ संज्ञक पुरुष यद्यपि अप्रतिसंक्रम है यानी किसी विषय से संबंध न होने से निर्लेप है तो भी परिणामिनी बुद्धि में प्रतिविम्बित होकर तदाकार होने से उस बुद्धि की वृत्ति का अनुपाती—अनुसारी हो जाता है और उस चैतन्य प्रतिविम्ब ग्राहिणी बुद्धि वृत्ति के अनुकार मात्र होने से बुद्धि वृत्ति से अभिन्न हुआ वह चेतन ही ज्ञान वृत्ति कहने में आता है।

यहां तक दृश्य और द्रष्टा का स्वरूप वर्णन किया, अब स्वस्वामी भाव रूप संबंध का उपयोगी जो दृश्यनिष्ठ पुरुषार्थत्व है, उसका इस सूत्र से निरूपण करते हैं:—'तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा।' (२।२१) अर्थः—पूर्वोक्त दृश्य का स्वरूप इस द्रष्टा रूप पुरुष के अर्थ ही है यानी ज्ञान स्वरूप पुरुष की विषयता को प्राप्त हुआ जो बुद्धि आदि दृश्य

है, उसका स्वरूप स्वार्थ नहीं है किन्तु पुरुष के भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ का संपादक होने से परार्थ है। यह जड़ रूप दृश्य पुरुष के भोग और अपवर्ग के अर्थ है इसीलिये भोग अपवर्ग रूप अर्थ के संपादन करने के बाद विवेकी पुरुष के प्रति यह दृश्य अदृश्य हो जाता है भाव यह है कि सुखादि अनुभव रूप भोग तथा विवेकख्याति रूप अपवर्ग ही दृश्य का प्रयोजन है, इसलिये जब पुरुष को अपने रूप का ज्ञान हो जाता है तब प्रयोजन के अभाव से दृश्य का विलय हो जाता है क्योंकि विवेक ख्याति रूप अंतिम प्रयोजन के संपादन करने के बाद दूसरा कोई प्रयोजन न रहने से दृश्य की प्रवृत्ति का संभव नहीं है।

शंकाः—यदि विवेक ख्याति के उदय होने से दृश्य के स्वरूप को हान यानी नाश हो जाता है तो अन्य पुरुषों के भोग तथा अपवर्ग को संपादन कैसे होगा ?

समाधानः—सर्व की दृष्टि से दृश्य का नाश नहीं होता किंतु विवेकी की दृष्टि से ही दृश्य नष्ट हो जाता है इसलिये जिनको विवेक ज्ञान नहीं हुआ है उनकी दृष्टि से दृश्य विद्यमान होने से उन को भोग तथा अपवर्ग होना संभव है। यह ही बात सूत्रकार कहते हैं:'कृतार्थं प्रति नष्टमप्य नष्टं तदन्य साधारण त्वात्' ॥ (२·२२)

अर्थः—विवेक ख्याति की उत्पत्ति द्वारा जिस पुरुष का अर्थ संपादन किया है, उस पुरुष के प्रति यद्यपि यह दृश्य नष्ट हो गया है तो भी अन्य अविवेकियों की अपेक्षा से अनष्ट यानी विद्यमान ही है क्योंकि यह दृश्य अन्य सब पुरुषों का साधारण है। तात्पर्य यह है कि दृश्य का भोग अपवर्ग संपादन रूप जो प्रयोजन है, वह केवल एक पुरुष के लिये ही नहीं है कि एक पुरुष के विवेक उदय होने से दृश्य के अभाव से अन्य पुरुषों का भोग अपवर्ग संपादन न हो, किंतु संपूर्ण पुरुषों के अर्थ दृश्य की प्रवृत्ति है इस लिये सब के लिये दृश्य की प्रवृत्ति साधारण होने से विवेकी पुरुष की दृष्टि में कृतकार्य दृश्य नष्ट भी है परन्तु अविवेकी की दृष्टि से कृतकार्य न होने से वह दृश्य अनष्ट-विद्यमान ही है। जैसे अन्धे पुरुष को रूप दिखाई नहीं देता, इतने से रूपको अभाव नहीं माना जाता क्योंकि नेत्र वालों की दृष्टि से रूप को उपलब्धि प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसी प्रकार विवेकी की दृष्टि से दृश्य की अनुपलब्धि होने पर भी अन्य की दृष्टि से प्रत्यक्ष सिद्ध होने से दृश्य विद्यमान ही है। यह ही बात श्रुति में कही है:—'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।' अर्थः—एक जो बद्ध पुरुष है, वह प्रकृति अथवा विषयों का सेवन करता हुआ मैं सुखी दुःखी हूं, इस प्रकार अनुताप युक्त होता है और अन्य जो विवेकी पुरुष है, वह भुक्त-भोग प्रकृति को त्याग देता है। इसलिये अविवेकी पुरुषों की विषयता को प्राप्त हुआ यह दृश्य चेतन रूप आत्मा के द्वारा निज रूप से लब्ध सत्ता वाला ही होता है, अभाव प्राप्त नहीं होता इसलिये प्रकृति पुरुष को नित्य विद्यमान होने से इन दोनों के संयोग को अनादि कहा जाता है। यह ही बात पंचशिखाचार्य ने कही है:—'धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादि संयोगः।' अर्थः—धर्मी यानी गुणों के संयोग को अनादि होने से धर्म रूप महत्तत्त्व आदि का संयोग भी अनादि है।

यहां तक पुरुष और प्रकृति को अनादि होने से उनका संबन्ध भी अनादि है, यह निरूपण किया, अब उन दोनों के संयोग का स्वरूप सूत्रकार इस सूत्र से कहते हैं:—'स्वस्वामिशक्त्योःस्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।' (२।२३)

अर्थः—स्वशक्तिसंज्ञक बुद्धि और स्वामी शक्ति संज्ञक पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि का हेतु रूप जो संबंध है, वह संयोग कहा जाता है। यहां 'स्वरूपोपलब्धि' इस पद में स्व शब्द दृश्य और द्रष्टा दोनों का वाचक है, दृश्य की स्वरूपोपलब्धि से भोग का ग्रहण है और द्रष्टा की स्वरूपोपलब्धि से अपवर्ग का ग्रहण है। इस प्रकार भोग अपवर्ग रूप पुरुषार्थ का सम्पादक जो प्रकृति पुरुष का स्वस्वामी भाव संबंध है, उसका नाम संयोग है। इसी बात को स्पष्ट करके समझाते हैं। दृश्य पुरुष के अर्थ होने से स्वशक्ति है और दृश्यकृत भोगादि रूप उपकार का भोगने वाला होने से पुरुष स्वामी शक्ति है। इन दोनों के स्वस्वामी भाव प्रयुक्त अनादि संयोग से अविवेक द्वारा जो दृश्य की उपलब्धि है यानी सुखादि विषयों का जो अनुभव है, वह भोग है और विवेक द्वारा दृश्य से भिन्न अपने स्वरूप का जो यथार्थ ज्ञान है, वह अपवर्ग है। भोग अपवर्ग ही स्वरूपोपलब्धि है और भोग अपवर्ग का हेतु जो प्रकृति पुरुष का स्वस्वामी भाव संवन्ध है, वह संयोग है। यह संयोग अनादि होने पर भी अनंत नहीं है क्योंकि विवेकख्याति पर्यन्त ही संयोग रहता है, पीछे नहीं रहता इसलिये दर्शन वियोग का कारण कहलाता है दर्शन अदर्शन का प्रतिद्वन्द्वी यानी विरोधी है इसलिये जैसे दर्शन वियोग का कारण है, तैसे अदर्शन संयोग का कारण है। दर्शन नाम विवेकख्याति अथवा ज्ञान का है और अदर्शन नाम अज्ञान अथवा अविवेक का है।

शंकाः—ज्ञान अपने विरोधीभूत अज्ञान को निवृत्ति कर सक्ता है, बंध ज्ञान का विरोधी नहीं है फिर बंध की निवृत्ति कैसे होगी ?

समाधानः—ज्ञान अज्ञान का विरोधी होने से अज्ञान का ही नाशक है, सुखादि भोगरूप बंध का नाशक नहीं है इसलिये ज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु अज्ञान निवृत्ति प्रयुक्त बंध निवृत्ति द्वारा परम्परा से मोक्ष का कारण है यानी अज्ञान के अभाव से जो बंध का अभाव है, वह ही मोक्ष है। और ज्ञान के होने से ही बंध के कारण अज्ञान का अभाव होता है। इस अभिप्राय से ही दर्शन कैवल्य का कारण कहा जाता है, साक्षात् ज्ञानजन्य कैवल्य नहीं है। यहां रहस्य यह है कि बुद्धि आदि से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होने का नाम मोक्ष है, इस स्वरूपावस्थान रूप मोक्ष का ज्ञान कारण नहीं है किंतु अज्ञान रूप प्रतिबंधक की निवृत्ति ही कारण है इसलिये अज्ञान निवृत्ति द्वारा ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा जाता है, वस्तुतः मोक्ष ज्ञान से जन्य नहीं है। बंध निवृत्ति पुरुष का स्वरूप होने से और पुरुष को नित्य सिद्ध होने से मोक्ष ज्ञानजन्य नहीं है किंतु नित्य है।

शंकाः—ज्ञान से जिस अज्ञान का अभाव होता है, उस अज्ञान का क्या स्वरूप है यानी अविद्या किस का नाम है ? (१) जो सृष्टि का कारण होगा वह ही संयोग का कारण होगा, इसलिये क्या गुणों के कार्यारम्भण सामर्थ्य का नाम अविद्या है ? अथवा (२) प्रधान अथवा चित्त तब तक ही चेष्टा करता है जब तक भोग और अपवर्ग दोनों विषयों को पुरुष के प्रति समर्पण नहीं करता और जब इन दोनों विषयों को समर्पण कर देता है तब वह चित्त निवृत्ताधिकार हो जाता है। क्या इस प्रकार के समाप्त कर्तव्य चित्त का अनुत्पाद यानी दृशि रूप स्वामी के भोग अपवर्ग अर्थ पुरुषार्थ की समाप्ति न होने से ज्ञान का जो अभाव है, उसका नाम अविद्या है ? अथवा (३) गुणों की अर्थवत्ता यानी चित्त में भोगापवर्ग रूप अर्थ की सूक्ष्मावस्था

से विद्यमानता, उसका नाम अविद्या है ? अथवा (४) चित्त की उत्पत्ति का बीजभूत और प्रलयकाल में चित्त के सहित ही प्रकृति में लीन जो विपर्य्यज्ञानवासना, वह अविद्या है ? अथवा (५) प्रधान संबंधी स्थिति संस्कार के क्षय होने पर गति संस्कार की अभिव्यक्ति अविद्या है ? यानी प्रधान में दो प्रकार का संस्कार रहता है, एक स्थिति संस्कार जो कि प्रलयकालीन साम्यावस्था का कारण है और एक गति संस्कार जो कि महत्तत्त्व आदि विकारों का आरंभक है, जैसा कि पंचशिखाचार्य ने कहा है:— यदि प्रधान स्थिति रूप से वर्तमान माना जायगा तो किसी कार्य के न करने से अप्रधान हो जायगा क्योंकि जिसमें सूक्ष्म रूप से स्थित हुआ कार्य फिर उत्पन्न होता है, उसका नाम प्रधान है। यदि गति से वर्तमान माना जायगा तो भी विकार को नित्य होने से अप्रधान हो जायगा क्योंकि किसी पदार्थ के लयाधार को ही प्रधान कहा जा सकता है। इसलिये उत्पत्ति काल में गति वाला और प्रलय काल में स्थिति वाला मानकर दोनों प्रकार से प्रधान की प्रवृत्ति द्वारा प्रधान व्यवहार मानना चाहिये, ऐसा मानने से प्रधानत्व के लाभ से किसी दोष को प्राप्ति नहीं होती गति संस्कार के होने से जो महदादि कार्य का आरम्भ है, क्या इसी को नाम अविद्या है। अथवा (६) कोई ऐसा कहते हैं:—'प्रधानस्यात्म ख्यापनार्था प्रवृत्तिः' इस श्रुति से दर्शन शक्ति ही अविद्या पद का वाच्य है यानी यद्यपि संपूर्ण पदार्थों के ज्ञान में पुरुष समर्थ है, तो भी प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व पुरुष उनको देख नहीं सकता और सर्व कार्य करने में समर्थ दृश्य भी उसे दिखाई नहीं देता इसलिए प्रधान की प्रवृति से जो पुरुष को दर्शन सामर्थ्य है, क्या उसी का नाम अविद्या है ? उपरोक्त श्रुति का अर्थ यह है कि प्रधान की प्रवृति आत्म स्वरूप के बोधन के अर्थ है। कोई यह कहते हैं कि प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों में जो परस्पर दर्शन शक्ति है, वह अविद्या है। यद्यपि दृश्य जड़ है और पुरुष असंग निर्धर्मक है इसलिये दोनों में से किसी का भी धर्म दर्शन नहीं हो सका तो भी चेतन के प्रतिविम्ब से दृश्य चेतनतुल्य हो जाने से उस चेतन छाया की अपेक्षा से दृश्य का धर्म दर्शन और बुद्धि रूप दृश्य की अपेक्षा से पुरुष का धर्म दर्शन जानना चाहिये यानी बुद्धि और चेतन का परस्पर अविवेक होने से दोनों का ही दर्शन धर्म है. और कोई यह कहते हैं कि शब्दादि विषयो का जो ज्ञान है, वह ही अविद्या है।

समाधानः—इस प्रकार अविद्या के स्वरूप निरूपण में अनेक प्रकार के विकल्प शास्त्रों में किये हैं। परन्तु ये सब विकल्प सर्व पुरुषों के संग प्रकृति संयोग में कारण होने से साधारण हैं यानी ये सब पूर्वोक्त अविद्या के लक्षण उसी अविद्या में रह सक्ते हैं क्योंकि प्रकृति पुरुष के संयोग द्वारा सर्व प्रपंच का हेतु है किंतु जो अविद्या प्रत्येक पुरुष के साथ बुद्धि संयोग द्वारा सुख दुःख रूप भोग की विचित्रता में हेतु है, उसके ये लक्षण नहीं हैं। यानी संयोग दो प्रकार का है, एक संपूर्ण संसार का कारण और एक प्रत्येक पुरुष के सुख दुःख रूप बद्ध मोक्ष का कारण; इनमें प्रथम संयोग का हेतु जो अविद्या है, उसीके ये सब पूर्वोक्त लक्षण हैं, दूसरी संयोग की हेतु भूत अविद्या के नहीं हैं इसलिये ये लक्षण साधारण हैं। यदि प्रत्येक पुरुष के साथ बुद्धि संयोग का हेतु यह पूर्वोक्त अविद्या नहीं है तो फिर सुख दुःखादि भोग के हेतु भूत संयोग का कारण कौनसी अविद्या है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् सूत्रकार इस सूत्र से देते हैं:—'तस्य हेतुर-

विद्या।' (२। २४) अर्थः—इस पूर्वोक्त दुःख के हेतु प्रकृति पुरुष संयोग का कारण विपर्य्यज्ञान वासना रूप अविद्या है। यानी अनादि जो विपर्य्यज्ञान जन्म-वासना है, वह ही अविद्या पद का वाच्य है और वह ही असाधारण संयोग का हेतु है। भाव यह है कि जिस काल में अनादि विपर्य्यज्ञान वासना से बुद्धि संयुक्त होती है, उस काल में विवेकख्याति रूप अंतिम कर्तव्य की निष्ठा को न प्राप्त होकर साधिकार होने से प्रकृति में लीन हुई भी बुद्धि फिर उत्थित होकर पुनरावृत्ति शील होजाती है और जब विवेक के उदय से विपर्य्यज्ञान वासना के अभाव से पुरुष ख्याति पर्य्यवसान हुई बुद्धि अपनी अन्तिम कर्तव्य निष्ठा को प्राप्त होने से समाप्त अधिकार होजाती है तब अज्ञान से रहित हुई संसार के कारण अज्ञान के अभाव से पुनरावृत्ति रहित हो जाती है इसलिये अन्वय व्यतिरेक द्वारा विपर्य्यज्ञान वासना ही संसार के हेतु संयोग का कारण है। यहां अनादि कहने से अन्योन्याश्रय दोष की निवृत्ति अभिप्रेत है यानी पूर्व सर्ग में यद्यपि विपर्य्यज्ञान वासना अपने कारण बुद्धि सहित प्रकृति में लीन होजाती है तो भी बुद्धि की वासना से प्रधान वासित रहता है इसलिये फिर वह वासना ही पूर्व के समान बुद्धि के संयोग को उत्पन्न कर देती है, इस प्रकार यह प्रवाह अनादि है।

विपर्य्यज्ञान वासना के निवर्तक विवेक ज्ञान के उदय होने के पीछे जब ज्ञानप्रसाद मात्र परवैराग्य उदय होता है तब विवेकख्याति के निरोध द्वारा चित्त निवृत्ति रूप मोक्ष पुरुष को हस्तगत होजाता है इसलिये विपर्य्य ज्ञान के नाश होने पर बुद्धि अपुनरावृत्ति शील होजाती है।

शंकाः—वाह! आपका कथन तो नपुंसक के वचन समान है! एक भोली भाली भार्य्या ने अपने नपुंसक पति से कहा हे आर्य्यपुत्र! जैसे मेरी भगिनी पुत्रवती है तैसे ही मैं पुत्रवती क्यों नहीं हूँ?' नपुंसक बोला 'प्रिये! मरने के बाद मैं भी तेरी संतान को उत्पन्न करके तुझे पुत्रवती कर दूंगा!' जैसे इस नपुंसक का वचन असंगत है तैसे आपका मोक्ष प्रतिपादन करना भी असंगत है! जिसने जीते हुए ही पुत्र उत्पन्न नहीं किया, वह मर कर पुत्र उत्पन्न क्या करेगा? जैसे यह आशा निष्फल है इसी प्रकार जब विद्यमान विवेक ख्याति ने चित्त निवृत्ति रूप मोक्ष उत्पन्न नहीं किया तो परवैराग्य से विनष्ट हुई विवेकख्याति मोक्ष उत्पन्न करेगी, यह कैसे हो सक्ता है?'

समाधानः—हम ज्ञान से चित्त की निवृत्ति नहीं मानते किंतु ऐसा मानते हैं कि ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति द्वारा चित्त अपने परिणाम से रहित होजाता है इसलिये हमारे मत में कोई दोष न होने से तुम्हारा आक्षेप ही नहीं बनता इसलिये व्यर्थ शंका का उत्तर देना ही निरर्थक है, इस आक्षेप का वारण तो किसी आचार्य देशीय ने ही इस प्रकार कर दिया है कि विवेकख्याति द्वारा बुद्धि के भोग रूप परिणाम की निवृत्ति का नाम मोक्ष है, कुछ बुद्धि की निवृत्ति का नाम मोक्ष नहीं है यानी बंध के कारण अज्ञान के अभाव से बुद्धि के परिणाम की जो निवृत्ति है, उसका नाम मोक्ष है। बंध के कारण अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है इसलिये ज्ञान साक्षात् चित्त की निवृत्ति का कारण नहीं है कि जिससे निरुद्ध हुए ज्ञान को चित्त निवृत्ति का कारण मानने में कोई दोष हो। नास्तिकों का व्यर्थ ही यह मति विभ्रम है। पुरुष शास्त्र प्रतिपादित अर्थ का सम्यक् परिशीलन कर आप सदाचार का सेवन करे और दूसरों को भी सदाचार में दृढ़ निष्ठा वाला करे, वह आचार्य कहलाता है, इस आचार्य से जो कुछ न्यून धर्म वाला

हो, वह आचार्य देशी कहलाता है। कोई यह कहते हैं कि स्वरूप से बुद्धि के विद्यमान होने पर भी केवल शब्दादि आकार परिणाम की निवृत्ति का नाम मोक्ष है, यह आचार्य देशीय का मत है और स्वरूप से ही बुद्धि के विलय का नाम मोक्ष है, यह आचार्य्य का मत है। यहां तक हेय और हेय हेतु यानी संसार और संसार के कारण का निरूपण हुआ।

भोला।

श्री गुरु।

एक दिन दो मुमुक्षु मिलकर परस्पर इस प्रकार वार्तालाप करने लगे:—

एकः—भाई! गंगा, यमुना, पुष्कर, प्रयागादि तीर्थों में स्नान करना बड़े पुण्य से प्राप्त होता है। समुद्र सर्व तीर्थमय है इस लिये समुद्र में स्नान करने से सब तीर्थों में स्नान करने का फल मिल जाता है। समुद्र में स्नान करने का सौभाग्य भी बड़े पुण्य से प्राप्त होता है। फिर भी समुद्र में स्नान करना सहज है परमात्मा परमानन्द से परिपूर्ण महा-समुद्र है, नित्य है और परम पावन है। परमात्मा रूप परमानन्द नित्य परम पावन समुद्र में स्नान करना महा कठिन है। सद्गुरु की करुणा विना परमात्मा रूप समुद्र में स्नान करना अत्यन्त कठिन है। जो अज्ञान को दूर करदे उसका नाम गुरु है अथवा जो धर्म का उपदेश करे वह गुरु है। जीव अग्नि रूप है। अग्नि रूप जीव के भीतर चिरकाल से अन्धकार रूप धूआं भरा हुआ है। श्री गुरु के चरणों के सिवाय अग्नि रूप को कौन धूम रहित निर्मल कर सकता है? कोई नहीं कर सकता! संसार पाश में बंधे हुओं को सदा के लिये मुक्त करने के लिये गुरु ही उपाय है, गुरु अवलम्बन है।

दूसरा:—भैया! संसार किसको कहते हैं?

एकः—भाई! मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होने वाली वासनाओं का नाम संसार है ऐसा नैयायिक मानते हैं। पूर्व कृत धर्माधर्म से शरीर का ग्रहण करना संसार है। ऐसा कोई कोई शास्त्रकार मानते हैं। संसार ही संसार है, ऐसा शब्दरत्नावली में कहा है। सार यह है कि जिसमें संसरना होता है वह ही संसार है। संसार का दूसरा नाम जगत् है। ऐंग्लो भाषा में Worldly illusion, The course of wordly life, Mundane existence, Transmigration, Succession of births, The world, ये सब संसार के नाम हैं, हे भाई! विधाता—ब्रह्मा की कृपा शक्ति मोक्ष की देने वाली है, वह ही कृपा शक्ति पशु रूप संसारी जीवों को पाश से छुड़ाने के लिये गुरु रूप से प्रकट हुई है। अज्ञान रूप तिमिर से अंधे हुये शिष्य को कृपा रूप अंजन की सलाई लगा कर जो निरोग करदे, वह ही गुरु कहलाता है।

दूसरा:—भाई! अज्ञान किसको कहते हैं?

एकः—भाई! विरुद्ध यानी विपरीत अज्ञान का नाम अज्ञान है। अविद्या और अहंकार भी अज्ञान के नाम है। अज्ञान पांच प्रकार का होता है। प्रथम **तम**, यह आवरण रूप है यानी मोह का कारण है। दूसरा **मोह**, देहादि को आत्मा मानना, इसका नाम मोह है। तीसरा **महामोह**, संसार के मूल कारण राग रूप मोह को महामोह कहते हैं। चौथा तामिश्र, भोग की इच्छा में प्रतिबंध करने वाले पर जो क्रोध किया जाता है, वह तामिश्र है। पांचवां

अंध तामिश्र, देह के मरण को अपना मरण मानना, इसको अंध तामिश्र कहते हैं। भाई! सत्य असत्य से विलक्षण अनिर्वचनीय, तीन गुण वाला, भाव रूप ज्ञान का विरोधी जो पदार्थ है, उसका नाम वेदान्त मत में अज्ञान है। श्री मालिनी विजय में कहा है कि लोग अज्ञान से बांधे जाते हैं, अज्ञान से सृष्टि है और अज्ञान से ही मृत्यु है। हे भाई! यह जीव अज्ञान रूप अंधकार से ढका हुआ है, धर्म तत्त्व को नहीं जानता है। सद्गुरु ज्ञान रूप दीपक बालकर अज्ञानी जीव को मुक्ति के मार्ग में ले जाता है। भाई! अब शिष्य की व्याख्या सुन, जो तन, मन और धन गुरु को सौंप देता है और श्री गुरु से योग सीखता है वह शिष्य कहलाता है। हे भाई! श्रद्धा विना कोई पुरुष शिष्यत्व का अधिकारी नहीं होता। शिष्य के अधिकारी बनने में श्रद्धा ही मुख्य कारण रूप है अश्रद्धा अवगुण रूप है और श्रद्धा में समस्त गुण एकत्र रहते हैं भगवान् का वचन है।—श्रद्धावान् और जितेन्द्रिय ही ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान को प्राप्त करते ही शीघ्र ही परम शान्ति प्राप्त होती है। किसी विद्वान् का वचन है कि जिस प्रकार बीज में सूक्ष्म रूप से वृक्ष मौजूद होता हैं इसी प्रकार श्रद्धा में समस्त गुण स्थित रहते हैं, इसमें संशय नहीं है। हे भाई! यह श्रद्धा सर्व दोषों की नाश करने वाली हैं, इस निर्मल श्रद्धा को अवश्य प्राप्त करना चाहिये अविश्वास-अश्रद्धा महाविघ्न हैं, उसको प्रयत्न पूर्वक दूर करना चाहिये। हे भाई! जो मुमुक्षु महान् बुद्धि वाला, महान् उद्यम करने वाला, सदा पवित्र, स्थिरता, धैर्य से संपन्न, विश्वासी, नम्रता वाला-विनयशील, सत्यवादी, तितिक्षु और गुरु सेवा परायण होता है, वह शीघ्र ही गुरु के अनुग्रह से परमानन्द को प्राप्त होता हैं। श्री गुरु की करुणा के बल से शिष्य असाध्य को भी प्राप्त कर लेता है इसलिये हम तुम को श्री गुरु के चरणाम्बुज का आश्रय लेना चाहिये। एक विद्वान् का वचन है:—

वेद के समान शास्त्र नहीं हैं, ज्ञान के समान सन्मित्र नहीं है, भारतवर्ष के समान सिद्ध भूमि नहीं है, गुरु के समान प्रभु नहीं हैं।

दूसरा:—भाई! भारतवर्ष के सिद्ध भूमि होने में क्या प्रमाण हैं?

एक:—भैया! विष्णु पुराण में कहा है:—हे महामुनि! इस जम्बु द्वीप में भी भारत श्रेष्ठ है क्योंकि यह कर्म भूमि है और अन्य भोग भूमि हैं। हे शिष्टतम! यहां पर महान् पुण्य के संचय होने से हजारों जन्मों में कभी मनुष्य शरीर प्राप्त होता है। पद्मपुराण में कहा है कि इस भारतवर्ष में सर्वदा ही हरि स्थित है। हे भाई! जो पुरुष स्वार्थ रहित हो, त्यागी हो, सत्यवादी, जितेन्द्रिय हो, शुद्धाचार वाला, पवित्र, चतुर, ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्मनिष्ठ हो, दम्भ रहित, दया का सागर, जीवों को अभय करने वाला, शास्त्रज्ञ, बुद्धिमान् और विद्वान् हो वह उत्तम गुरु माना गया हैं। ऐसे कृपालु गुरु के पास भेंट लेकर दीक्षा के लिये जाना चाहिये। हे भाई! नीति शास्त्र का वचन है कि राजा, देवता और गुरु का खाली हाथ जाकर दर्शन न करे! श्रुति में कहा है:—श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास समिधा लेकर आत्मा के जानने के लिये जाना चाहिये। हे भाई! भक्ति और विनय से संपन्न होकर पृथिवी में दंड के समान लोट कर गुरु को नमस्कार करे, पश्चात् पुष्पों से गुरु का पूजन करके प्रेम पूर्वक इस प्रकार स्तुति करे:— ....

हे श्रीगुरो! आप नित्य हैं, विद्वानों के कुल में भूषण हैं, योग के ऐश्वर्य से संपन्न हैं, योगानंद के देने वाले हैं आपको नमस्कार है! हे श्रीगुरो! आप महान् से भी महान् हैं, पूर्ण विज्ञान की मूर्ति हैं, परमानन्द के सागर हैं, दुःख और ताप के निवारण करने वाले हैं, आपको नमस्कार है। हे श्रीगुरु आप दया के समुद्र हैं, विश्व के पावन करने वाले हैं, आप ही परम हैं, ब्रह्म हैं और संसार समुद्र के सुखाने वाले हैं! हे श्रीगुरो! आप मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये, मोह सागर में से मुझे निकालिये, तीनों ताप से मेरी रक्षा कीजिये, हे आर्तवत्सल! मेरी रक्षा कीजिये! हे नाथ! मैं अज्ञान रूप अंधकार से ढका हुआ हूं, कृपा रूप प्रकाशवान् दीपक से योग पथ यानी मोक्ष मार्ग दिखलाइये! हे विभो! पाप कर्मों से तथा नरक से मेरी रक्षा कीजिये, आप ही मेरे बांधव हैं! मैं कुछ नहीं जानता हूं, आप मेरे कल्याण का उपाय जानते हैं, इसलिये आप सर्वदा युक्त मार्ग में मुझे नियुक्त कीजिये! यद्यपि मैं जानता हूं, कि देव चरणों को सेवकों से कुछ प्रयोजन नहीं है, फिर भी आपकी सेवा के लिये मेरा मन सर्वदा व्यग्र रहा करे! हे भगवन्! मैं आपसे अधिक क्या कहूं, जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा ही कीजिये, मैं अपने को आपके चरणों में अर्पण करता हूं, मैं आपके शरण में आया हूं!

इस प्रकार स्तुति करके जो पुरुष हाथ जोड़ कर गुरु के संमुख स्थित होता है, उस गुणवान् पुरुष को उत्तम गुरु शिष्य रूप से ग्रहण करता है। श्रुति में कहा है:—वह विद्वान् गुरु शमादि युक्त शान्त चित्त वाले शिष्य को तत्त्व रूप ब्रह्म विद्या का उपदेश करे, ब्रह्म विद्या से ही अक्षर—नाश रहित, सत्य पुरुष जानने में आता है। शरण में आये हुये गुण संपन्न शिष्य को कालानुसार शक्तिपातादि कर्म से गुरु दीक्षा देता है यानी मोक्ष मार्ग में प्रवेश करने का अधिकारी बनाता है। गुरु की शक्तिपात करने से शिष्य विवेक के संमुख होता है। दीक्षा ज्ञान देने वाली, पापों का क्षय करने वाली और मंगल रूप मोक्ष की देने वाली है इसलिये दीक्षा कहलाती है, समस्त जप दीक्षा के अधीन हैं, परम तप भी दीक्षा के अधीन हैं, इसलिये जिस किसी आश्रम में बसे, दीक्षा सहित ही निवास करे! जैसे रस मंत्र से मंत्रित हुआ लोहा सुवर्ण हो जाता है इसी प्रकार दीक्षा से दीक्षित हुआ आत्मा निश्चय शिव रूप हो जाता है, यह बात कुलार्णव ग्रन्थ में कही है। दीक्षा के प्रभाव से गुरु की शक्ति शिष्य में प्रवेश करती है किंतु शिष्य के अधिकार भेद से दीक्षा में भेद होता है। स्पर्श करके, भाषण करके, दृष्टिपात करके अथवा चिंतन से पूर्ण कृपा युक्त गुरु शिष्य में शक्ति का संचार करते हैं अथवा गुण संपन्न शिष्य के देह में योगबल से प्रवेश करके योगी गुरु शिष्य के आत्मा को अपने आत्मा के साथ युक्त कर लेते हैं। अथवा मंत्रमय शरीर धारण करके श्री गुरु शिष्य में प्रतिबिम्बित—Reflected हो जाते हैं। सार यह है कि किसी न किसी प्रकार से शक्तिपात करके गुरु शिष्य को संसार बंधन से मुक्त कर देते हैं। जैसे अंधेरे घर में रक्खा हुआ घट दीपक से दिखाई देता है, इसी प्रकार गुरु के दिये हुये मंत्र से माया से ढका हुआ आत्मा दृष्टिगोचर होता है—दिखाई देता है। श्रीगुरु का सामर्थ्य पाकर शिष्य अज्ञान रूपी ईंधन को जला देता है, भक्तों की चिंता का नाश करने वाला होता है, और प्रेम भक्ति को बढ़ाने वाला होता है। इसलिये प्रयत्नपूर्वक मंगलमयी दीक्षा शिष्य को ग्रहण

करनी चाहिये। भक्ति रसामृत सिंधु में साधन भक्ति, भाव भक्ति और प्रेम भक्ति तीन प्रकार की भक्ति कही है। साधन भक्ति धारणा रूप हैं, भाव भक्ति ध्यान रूप है और प्रेम भक्ति समाधि रूप है। ये तीनों प्रकार की भक्ति दीक्षा से प्राप्त होती हैं।

यद्यपि यह श्रेयकारिणी दीक्षा महा शक्ति प्रदान करने वाली है परन्तु यथा योग्य पुरुषार्थ विना फल देने वाली नहीं होती। इसलिये दीक्षा प्राप्त करके शिष्य को प्रयत्नपूर्वक महा उद्यम करना चाहिये और सर्वदा योग का अनुष्ठान करना चाहिये। जैसे वन में यानी एकान्त स्थान में रुदन करना—रोना निष्फल है क्योंकि वहां शान्ति का उपाय करने वाला श्रोता नहीं होता इसी प्रकार उद्यम किये विना गुरु की दी हुई दीक्षा फलदायिनी नहीं होती। इसलिये अपनी विद्या का गर्व त्यागकर गुरु की आज्ञा का सर्वदा विचार करे प्राणों को त्याग कर भी गुरु के आदेश का आचरण करे! श्री गुरु का सर्वदा अवलम्बन करे अन्य सब का आश्रय त्याग देवे, श्री गुरु के ताड़नादि को परम प्रसाद समझे, शिष्य के कल्याण के अर्थ गुरु शिष्य को शासन—शिक्षा देता है और काल क्रम अनुसार शिष्य को उन्नति के स्थान पर पहुंचा देता है। जो गुरु के शासन के अधीन होता है, सदा गुरु की आज्ञा में वर्तता हैं, शासन करने पर भी स्थिर वृत्तिवाला रहता हैं, वह शिष्य मुक्ति का अधिकारी है, जो दम्भी होता हैं, गुरु की आज्ञा का अनादर करता हैं और स्वतंत्र रहने की इच्छा करता है, वह शिष्य मुक्ति का अधिकारी नहीं है, श्रुति भगवती कहती है:—

अविद्यामन्तरे वर्तमानाः स्वयन्धीराः पण्डितम्मन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ मुण्डक।

अर्थः—जो लोग अविद्या में पड़े हुये हैं, अपने को धीर और पंडित मानते हैं, और अनेक प्रकार की क्रियाओं से अपना हवन करते हैं, वे उन अंधे मूर्खों के समान हैं, जो दूसरे अंधों के बताये हुये मार्ग में चलते हैं। गुरू शरण ही मुक्तिदायिनी है, इसीलिये कहा है:—

कुं:—ले रे जल्दी गुरु शरण, करि मत दूजा काज।
अपनावेंगे एक दिन, शरण गहे की लाज॥
शरण गहे की लाज, नीति यह नित्य पुरातन।
हुआ कौन नहिं पूर्ण, पूर्ण आराधित सन्तन॥
भोला तज अभिमान, ध्यान गुरु पद में दे रे।
क्यों करता है देर, शरण गुरु जल्दी ले रे॥

और भी कहा है:—

आराधत जे पूर्ण नित, निश्चय होते पूर्ण।
करते भंजन अपूर्ण का, रहते सदा अपूर्ण॥
रहते सदा अपूर्ण, कष्ट भोगत हैं नाना।
करे पूर्ण का भाव, प्राज्ञ सो चतुर सयाना॥
भोला विषयन त्याग, विषय ही जग कूं बांधत।
होते भव से मुक्त, चरण गुरु जो आराधत॥

—सकल चराचरानुचर भोला।



अहंकार ।

एक मुमुक्षु ने एक दिन एक संत से इस प्रकार प्रश्न किया:—

मुमुक्षुः—महाराज ! अहंकार का क्या स्वरूप है और उसकी निवृत्ति का क्या उपाय है, कृपा करके सरल रीति से सीधे साधे शब्दों में समझाइये !

संत:—वत्स ! काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, ईर्ष्या आदि जीव के शत्रु हैं, इन शत्रुओं से सभी प्राणी तंग हो रहे हैं, कोई विरला ही सद्गुरु शास्त्र और ईश्वर की कृपा से भले ही मुक्त हो, नहीं तो सभी संसार इन शत्रुओं से पराभव पाकर दुखी हो रहे हैं। यद्यपि उपरोक्त सभी शत्रु दुःखदायी और नष्ट करने वाले हैं, फिर भी इन सब से प्रबल महा शत्रु अहंकार है। अहंकार काम क्रोधादि सब शत्रुओं का सैन्यापति है, अथवा अहंकार काम क्रोधादि का पिता है और काम क्रोधादि सब अहंकार की संतान हैं। इस महा शत्रु को जो ईश्वर की कृपा से जीत लेता है वह सुखी और शान्त होता है। अहंकार पापों का मूल है, अमंगल स्वरूप है यानी श्रेयमार्ग से पुरुष को भ्रष्ट करता है। तीनों ताप इसी से उत्पन्न होते हैं। अध्यात्मिक, अधिदैविक और अधिभौतिक तीन ताप हैं। ज्वरादि अध्यात्मिक ताप हैं। अधिक वृष्टि, भूकम्प अधिदैविक ताप हैं और चोर अग्नि आदि से होने वाले अधिभौतिक ताप कहलाते हैं। इन तीनों तापों का मूल कारण अहंकार ही है। इस अहंकार शत्रु को शीघ्र ही मार देना चाहिये। अपने कर्तृत्वादि का वर्णन करना यानी मैंने इतने तीर्थ कर लिये, इतने यज्ञ किये, इतने दान किये, इतना भजन करता हूं, इत्यादि अपनी श्लाघा करना, इसका नाम अहंकार है। अथवा मैं ब्राह्मण हूं, कुलीन हूं विद्या वाला हूं, धनी हूं, इत्यादि अपनी श्रेष्ठता का प्रकट करना, इसका नाम अहंकार है। गर्व और अभिमान भी अहंकार के ही नाम हैं। अथवा देहादि में अहंभाव करना यानी मैं देह ही हूं। इस निश्चय का नाम अहंकार है। वेदान्त मत में अभिमान रूप अंतःकारण की वृत्ति को अहंकार कहा है। नारद सूत्र में कहा है कि अभिमान दम्भादिक को त्यागना चाहिये। विद्वानों ने अहंकार को अंकुर यानी छोटे पौदे की उपमा दी है। इस अहंकार रूप अंकुर का मम यानी मेरा महान् स्कंध—पींड —Trunk है यह क्षेत्रादि उपशाखायें हैं, पुत्र स्त्री आदि पत्ते हैं पुण्य पाप फूल है और सुख दुःख फल हैं सुख प्राप्ति के लिये कर्म करने से अज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार अहंकार रूप अंकुर बढ़ कर अज्ञान रूप महान् वृक्ष हो जाता है। संसार मार्ग के जो पथिक थक कर इस वृक्ष की छाया का आश्रय लेते हैं, उन भ्रांति ज्ञान वालों को अखंड सुख कैसे प्राप्त हो ? नहीं प्राप्त होता। जो विवेकी पुरुष विद्या रूप कुठार को लेकर सत्संग रूपी सान पर घिस कर पैना कर के, उस कुठार से इस महान् वृक्ष को काट डालता है, वह ही धीर पुरुष ईश्वर में लय होता है। योग वासिष्ट में कहा है कि इस पाप रूप संसार में जो कुछ सुख दुःख प्राप्त होता है, वह सब अहंकार से ही होता है। एक विद्वान् का कथन है कि अहंकार के लय होने पर तीनों ताप नष्ट हो जाते हैं और चित्त में शान्ति स्थित होती है। अहंकार का अनुसंधान न करने से पुरुष भवसागर से तर जाता है। हे शिष्य ! मैं कर्ता भोक्ता हूं, मैं ज्ञानी हूं, मैं महान् पंडित हूं, मैं महात्मा हूं, मैं सर्व शास्त्रों का ज्ञाता हूं मैं सर्व सौंदर्य से संपन्न हूं, मैं महान् तेज वाला हूं, मैं महाबली हूं, मैं प्रतिष्ठित Most Venerable हूं श्रेष्ठ हूं, सर्व

पूज्य हूं, इत्यादि अभिमान करना, संसार बंधन का कारण है। हे प्रियदर्शन! जब तक गर्व उत्पन्न नहीं होता तभी तक नम्रता रहती है, तभी तक उन्नति है और तभी मोक्ष होना संभव है इस अहंकार की जड़ बहुत गहरी हैं, जब तक किंचित भी देहाध्यास अथवा जगत् की सत्यता हैं तव तक अहंकार की निवृत्ति नहीं हो सक्ती,

ब्रह्मानंद नाम के एक संन्यासी थे। निर्भयानंद नाम के एक दूसरे संन्यासी कभी २ उनके पास आया करते थे। एक दिन यह दोनों वात चीत कर रहे थे और ब्रह्मानंद का एकाक्षी रसोइया सामने बैठा हुआ इनकी वातें सुन रहा था, जब निर्भयानंद ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करते हुये, ब्रह्म को असंग निर्भय आदि कह रहे थे तब काना रसोइया उनको अंगूठा दिखा २ कर मुसकराने लगा। ऐसा देखकर निर्भयानंदजी एक दम आपे से बाहर होकर ब्रह्मानंदजी से कहने लगे अजी! यह कैसा पाजी धूर्त आदमी रख छोड़ा है, यह तो धूर्त लोगों की मण्डली में रहने योग्य है! आपने कैसे रख लिया हैं। रख लिया था तो शिक्षा देनी चाहिये थी! यह तो अवश्य आपकी अपकीर्ति का कारण होगा! .... काना अपना मतलब सिद्ध हुआ देख कर बात काट कर ही कहने लगा अजी! स्वामी जी! अब ही निर्भय नाहिं भये! अभी दिल्ली दूर हैं! वेदान्त पढ़े ही हो, गुणे नहीं हो! मेरा हाथ है, मेरा अंगूठा है, मुझे उन पर अधिकार हैं, हिलाऊँ या चाहे जो कुछ करूँ। आपको क्या? महाराज! बुरा न मानिये हम धूर्त हैं, तभी तो आप साधु कहलाते हैं धूर्त ही न हों तो साधुओं को साधू कौन कहे? ब्रह्मानंदजी ने आंख दिखाकर रसोइये को रोक दिया। निर्भयानंद भी समझदार थे, अपनी भूल मन में स्वीकार कर के चुप होगये और आगे असंग निरहंकार रहने का यत्न करने लगे! सारांश यह है कि पूर्ण प्रयत्न विना अहंकार नष्ट नहीं होता।

हे शिष्य! अव अहंकार की निवृत्ति का उपाय सुनः—विश्वेश्वर जगन्नाथ महान् करुणा के सागर हैं, जीवों का दुःख उनसे देखा नहीं जाता, वे सर्वदा सब ही जीवों पर महान् कृपा करते हैं। भगवान् की यह कृपा दम्भियों और अभिमानियों के भोग के लिये नही हैं, किंतु अत्यंत दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के लिये हैं। ऐसा विचार कर विद्वान् शीघ्र ही दम्भ—vanity और दर्प—pride का शीघ्र ही त्याग करे! मुमुक्षु को ऐसा विचार करना चाहिये कि ईश्वर ही कर्ता धर्ता है, मैं कुछ भी करने को समर्थ नहीं हूं, जो कुछ करता हूं, उसीके सामर्थ्य से और उसी के अनुग्रह से करता हूं, ऐसी भावना करने से अंतःकरण शुद्ध होता है, ज्ञान की प्राप्ति होती है और संसार बंधन की निवृत्ति होती है। हे वत्स! समस्त जगत् ईश्वर के अधीन है, सब स्त्री पुरुषों को उसकी कृपा का बल हैं, उसकी कृपा ही संसार रूप असाध्य रोग की औषधि है। महादेव सब विश्व के राजा हैं। सब इन्द्रियों से उन्हीं का पूजन करे! ऐसा करने से विश्वनाथ शीघ्र ही करुणा करते हैं और अपने भक्त के दुःख मिटाते हैं। परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ नहीं है, वेही सकल चराचर रूप हैं। विश्वेश ही दाता, भोक्ता, कर्ता त्राता और जगत के अधिष्ठान हैं। नित्य रूप भगवान में सब विश्व स्थित हैं, वे एक ही समस्त विश्व के कारण हैं, परब्रह्म में ही सब की प्रतीति होती है, वे ही परापर नित्य और पूर्ण हैं। परमात्मा स्वयं ज्योति, सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से अतीत हैं, फिर भी अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये सगुण

होकर दिव्य विग्रह—मूर्ति धारण करते हैं। भगवत् का कोई नाम नहीं है, फिर भी भक्तों ने अपनी २ भावनानुसार उनके अनेक नाम रक्खे हैं।

भगवत् वृहत् से भी वृहत् हैं इसलिये 'परब्रह्म' कहलाते हैं। भगवत् ब्रह्मादिक श्रेष्ठों से भी श्रेष्ठ हैं इसलिये भक्त उनको 'परात्पर' कहते हैं। भगवत् सम्वित यानी ज्ञान के भी प्रकाशक हैं इसलिये उनका नाम परा सम्वित हैं। भगवान् कल्याण यानी मोक्ष के अधिष्ठाता हैं इसलिये मुमुक्षु उनको 'परम शिव' कहते हैं। भगवत् चित स्वरूप आत्मा हैं अथवा लोक में बुद्धि आदि जो चैतन्य कहलाते हैं उनके भी चेतन करने वाले हैं, इसलिये उनको परमात्मा कहते हैं। भगवत् सबको माया से मुक्त करते हैं सबमें प्रवेश कर रहे हैं, अथवा सब प्राणी उनमें ही प्रविष्ट हैं इसलिये 'विष्णु' कहलाते हैं, भगवत् ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य छै ऐश्वर्य से युक्त हैं, अथवा जगत् की उत्पत्ति, प्रलय, प्राणियों की गति, अगति, विद्या और अविद्या को भगवत् जानते हैं अथवा ज्ञान, शक्ति, वल, ऐश्वर्य वीर्य और तेज ये छैः ऐश्वर्य भगवत् में विद्यमान हैं इसलिये वे भगवान् कहलाते हैं। भगवत् सबको आकर्षण करते हैं, अथवा सबके चित्त को खेंचते हैं, अथवा 'कृषि' शब्द का अर्थ होना है और 'णः' का अर्थ आनन्द हैं इसलिये आनन्द स्वरूप होने से भगवत् कृष्ण कहलाते हैं। भगवत् सबके साथ रमण करते हैं अथवा सब जीव भगवत् में रमण करते हैं इसलिये भक्त उनको 'राम' कहते हैं। शिव शब्द का अर्थ मोक्ष है और 'आ' का अर्थ दाता है। सबको मोक्ष देने वाले होने से भगवत् 'शिवा' कहलाते हैं। 'नार' ज्ञान को कहते हैं और अयन स्थान को कहते हैं इसलिये ज्ञान के स्थान—अधिष्ठान होने से भगवत् नारायण कहलाते हैं।

ऐसे हृषीकेश, परमेश्वर, सच्चिदानन्द, अव्यय स्वरूप भगवत् का आस्तिक बुद्धि से सदा पूजन करना चाहिये। उनकी कृपा से भक्ति शीघ्र ही हस्तगत होती है, इसलिये भक्तों पर अनुग्रह करने वाले देव का अनन्य बुद्धि से पूजन करे! भगवत् की कृपा दृष्टि से गुण हीन पुरुष में भी उत्तम गुण शीघ्र ही आजाते हैं। जिस पुरुष पर उनकी किंचित भी कृपा हो जाय, वह पुरुष धन्य है, और प्रशंसनीय है। शिव के पूजन विना और उनकी अमृत कथा श्रवण किये विना जो दिन चला जाय, वह दिन निश्चय खोटा ही दिन है क्योंकि निष्फल हो चला गया। जो घड़ी, जो मुहूर्त, जो घंटा भगवत् भजन विना चला जाय, उसके लिये रोना और पश्चात्ताप करना चाहिये। जिनको संसार सर्प ने काट रक्खा हैं, उनके लिये हर देश, हर काल और हर अवस्था में हरि चिंतवन गारुड़ी मंत्र हैं अथवा विष उतारने वाली बूटी है। विद्वान् भगवत् के सिवाय कभी भी न तो किसी को भजे, न किसी का चिंतवन करे, न कुछ श्रवण करे, किंतु सर्वदा राममय होवे! सर्वाधार, निराधार, शङ्कर, हृदयेश, पूर्ण प्रेम स्वरूप मुकुंद का नित्य चिंतवन करे। मुकुंवेद में भक्ति रस को कहा है, भगवत् भक्ति रस देने वाले होने से मुकुंद कहलाते हैं।

इस प्रकार भवेश्वर, भगवान् परमात्मा का ध्यान करता हुआ, उनकी करुणा के वल से अपना समस्त अहंकार और ममता उनके अर्पण कर दे! निष्काम होकर सर्वदा विष्णु का चिंतवन करे और भगवत् परायण होकर समस्त इन्द्रियों को शीघ्र

ही अंतर्मुख करे यानी बाहर के विषयों में से इन्द्रिय वृत्ति हटाकर भगवत् में जोड़ दे ! बड़े भाग्य से शंभु में अनन्य ममता होती है, मनुष्यों का वह ही परम अवलम्बन है। शोक रहित पद का अवलम्बन करके अनन्य प्रेम के योग से शुद्ध, बुद्ध, अव्यय पद में सर्वदा अपने अहंकार का होम किया करे ! इस प्रकार निर्मल होकर क्षेत्रज्ञ जीवात्मा को ब्रह्म में लय कर देवे यानी मन को वृत्ति हीन करके जीव को शिव में लीन करदे ! ऐसा करने से जितेन्द्रिय मुमुक्षु ज्ञानी, योगी और मुनि होकर परम शान्ति रूप शाश्वत सिद्धि रूप मोक्ष को प्राप्त होता है। सच कहा है कि जिस प्रकार जल बिना प्यास नहीं बुझती इसी प्रकार ब्रह्म प्राप्ति बिना जीव के दुःख का अन्त नहीं आता। जैसे अग्नि की समीपता से मक्खन पिघल जाता है इसी प्रकार ईश्वर की संनिधि से शोक मोह लीन हो जाते हैं। जैसे अग्नि सूखी हुई लकड़ियों को शीघ्र जला देता है इसी प्रकार ब्रह्म दर्शन रूप अग्नि शोक मोह को जला देता है। इसलिये जगत् की चिंता छोड़ कर नित्य ही ब्रह्म का चिंतवन करे। ब्रह्म का चिन्तवन करने वाला विद्वान् संसार रूप शोक सागर से गोपद के समान तर जाता है। ब्रह्म चिंतवन में प्रमाद कभी नहीं करना चाहिये, बाधा रहित स्थान में बैठ कर सदा ध्यानादिक करना चाहिये प्रमाद, भ्रांति, मूर्खता भूल को कहते हैं। यह योग में विघ्नकारक हैं। जगत् के अधिष्ठान अतुल आनन्द रस पूर्ण ब्रह्म का ध्यान करता हुआ, सर्वदा ही परम अमृत रूप सागर में मग्न रहे !

कुं:—सागर ब्रह्मानन्द में मग्न रहे दिन रात।
शोक मोह सब जांय भग, नर पावे कुशलात॥
नर पावे कुशलात, दुःख सारे मिट जावत।
अचल शान्तिमय धाम, ब्रह्म अक्षय पद पावत॥
सिद्ध करे पुरुषार्थ, पुरुष सोही है नागर।
भोला ! भज परमात्म, त्याग भयप्रद भवसागर॥
सकल चराचरानुचर भोला।

वाक्य सुधा।

(गतांक से आगे)

लये फेनस्यतद्धर्माः,
द्रवाद्याःस्युस्तरंग के।
तस्यापि विलये नीरे,
तिष्ठन्त्येते यथा पुरा ॥४५॥

अर्थः—फेन के लय हो जाने पर उसके द्रवादिक धर्म तरंग में रहते हैं और तरंग के लय हो जाने पर पूर्ववत् जल में ठहर जाते हैं।

विवेचन।

मधुरता द्रवता और शीतलता जल के धर्म तरंग में रह कर झाग में आये थे, जब झाग का लय जल में हो जाता है तब उसके धर्म का भी लय जल में हो जाता है। कारण के धर्म कार्य में आते हैं, जब कार्य का लय कारण में होता है तब कार्य के धर्म का भी लय कारण में हो जाता है, क्योंकि वे धर्म कार्य में स्वतः सिद्ध नहीं थे, कारण में से ही आये हुये थे जैसे घट में मृतिका के आये हुये धर्म जब घट का नाश हो जाता है तब मृतिका ही में रहते हैं घट में मृतिका के आये हुये धर्म मृतिका में ही आजाते हैं। जैसे कोई मनुष्य किसी राजा का दीवान हो राजा की सत्ता से दीवान में दीवान की सत्ता आती है जब दीवान को नौकरी से निकाल देता है तब दीवान की सत्ता जो राजा में से आई थी राजा में चली जाती है।

शंकाः—तुमने कारण के धर्म कार्य में आते हैं यह नियम से दिखलाया और जल तरंग के भाव से समझाया परन्तु आत्मा का कार्य चिदाभास नहीं है

स्वप्न कल्पित भी नहीं है तब आत्मा के धर्म चिदाभास में और चिदाभास के धर्म स्वप्न कल्पित में कैसे आ सकते हैं ?

समाधानः—तूने सत्ता के भेद से कार्य कारण की असंभवता दिखलाई परंतु यहां कार्य कारण दो प्रकार से हैं। आत्मा का विवर्त चिदाभास और स्वप्न कल्पित है इसी से विवर्त रूप से कार्य कारण भाव है और वे ही चिदाभास और स्वप्न कल्पित जीव माया का कार्य है उनमें जो कार्यत्व हैं वे माया के हैं। माया सम्पूर्ण प्रपंच का उपादान कारण है, इसी प्रकार चिदाभास और स्वप्न कल्पित का अधिष्ठान चेतन होने से पारमार्थिक सत्ता में है और माया का कार्य होने से व्यवहारिक सत्ता में है। व्यवहारिक और प्रातिभासिक सत्ता में पारमार्थिकता का बोध नहीं होता परन्तु आधार किसी प्रकार निवृत्त हो नहीं सकता।

सत् चित और आनन्द साक्षी में, चिदाभास में और स्वप्न कल्पित में विकार रहित ही रहता है और चिदाभास और स्वप्न कल्पित में सत् चित् आनन्द में विकार की प्रतीति होती है, यह विकार माया का कार्य है और विकार की उत्पत्ति भी माया का कार्य है। भिन्न २ पदार्थों में देखने वाले में सत् चित और आनन्द का देश काल वस्तु से टुकड़ा माया से है।

शंकाः—साक्षी और माया, पारमार्थिक सत्ता और व्यवहारिक सत्ता के होने से एक दूसरे से विरुद्ध धर्म वाले हैं तब एक काल में एक पदार्थ में अयुक्त हैं एक में दो सत्ता कैसे रह सकती हैं।

समाधानः—पारमार्थिक सत्ता वाले साक्षी को व्यवहारिक प्रपंच का विरोध नहीं है क्योंकि पारमार्थिक समानता का हेतु है और व्यवहार विशेषता से होता है, जो विरोध होय तो जहां अखंड परब्रह्म व्यापक तत्त्व है वहां माया का चिदाभास ही न होय और चिदाभास में स्वप्न कल्पित की प्रतीति भी न होय, इसी से सिद्ध होता है कि पारमार्थिक में ही व्यवहारिक सत्ता है। दोनों एक दूसरे से विलक्षण हैं परन्तु पारमार्थिक में व्यवहार का विरोध नहीं है। जैसे रात्रि के चंद्र का दिन से विरोध है परन्तु चित्र के चंद्र से दिन का विरोध नहीं है, दिवस में भी चित्र का चंद्र दीखता है वैसे माया का व्यवहार झूठा होने से पारमार्थिक तत्त्व में हो सकता है माया में फसे हुये को पारमार्थिक का भान नहीं होता तो भी पारमार्थिक का अस्तिव है एक मनुष्य अपनी बेटी को देखता है तब उसे बेटी दिखलाई देती है और उस स्त्री को जब उसका पति देखता है तब उसे अपनी स्त्री दिखाई देती है। देखने वाले की दृष्टि से दृष्य के भाव में अन्तर है दृष्य पदार्थ समान है ऐसे ज्ञानी पुरुष व्यवहार में भी पारमार्थिक तत्त्व को देखता है और अज्ञानी व्यवहार के भाव से पदार्थ को देखता है, ज्ञानी के आन्तर में व्यवहार को देखते हुये उस का मिथ्यात्व ही रहता है और अज्ञानी को व्यवहार की सत्यता आन्तर में होती है उसे पारमर्थिक तत्त्व यह और मायिक तत्व यह ऐसा स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है।

शंकाः—जैसे जाग्रत होने से स्वप्न की निवृत्ति हो जाती है, जाग्रत होने के बाद स्वप्न का व्यवहार नहीं होता इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषों को भी अपने स्वरूप में जाग्रत होने के बाद जगत् का व्यवहार न होना चाहिये और व्यवहार होता है तब वह स्वरूप में जाग्रत कैसे हुआ ?

समाधानः—तू विषयान्तर करता है तो भी मैं समझाता हूँ श्रवण कर। ज्ञानी पुरुष की स्थिति परमतत्त्व में होती है, जैसे परब्रह्म का विरोध

माया और माया के कार्य से नहीं है इसी प्रकार तत्त्व स्थित ज्ञानी को व्यवहार से विरोध नहीं होता। उसका अज्ञान जल कर खाक हो गया है, उसका व्यवहार जली हुई अविद्या की खाक रूप है, उसके निश्चय में व्यवहार की सत्यता नहीं होती। अज्ञानी की दृष्टि में ज्ञानी का व्यवहार दीखता है ज्ञानी को तो अज्ञानी के समान व्यवहार ही नहीं है। जली हुई अविद्या की खाक जब तक उड़ नहीं जाती तब तक दीखती है। शरीर के कुछ शेष प्रारब्ध का वर्ताव होने से दूसरे मनुष्यों को क्रिया होती मालूम देती है ज्ञानी पुरुष स्वयम् क्रिया करता नहीं उसके शरीर में पूर्व प्रारब्ध का प्रवाह ही कर्ता रूप से वर्तता है, वह स्वयम् कर्ता नहीं है। जिसके हृदय में व्यवहार का विरोध है वह पूर्ण ज्ञानी भी नहीं है, व्यवहार होने और न होने में ज्ञानी शरीर और अंतःकरण के साथ मिलता नहीं है, तटस्थ ही रहता है।

जैसे मनुष्य नींद में से जाग्रत हो गया हो तो भी थोड़े समय तक नींद की खुमारी आंख में भरी रहती है, जाग्रत हुआ तो भी जैसे नींद पृथक् नहीं हुई है वैसे अज्ञान अवस्था में अनन्त काल का भटका हुआ था उसमें से चेत होते हुये भी पूर्व का भाव कुछ समय तक रहता है। ज्ञानी की शारीरिक चेष्टा का होना इस प्रकार का है अथवा जैसे कोई पेड़ की जड़ काट डाली होय, और पेड़ खड़ा होय तब कुछ समय तक वह दूसरों को हरा ही दीखता है पेड़ का नीचे से खींचा हुआ रस जब तक ऊपर चढ़ कर फैलता नहीं है तब तक फूल भी खिलते रहते हैं ऐसे ज्ञान के पश्चात जीवन्मुक्त की स्थिति होती है।

पारमार्थिक में जिस प्रकार व्यवहारिक है ऐसे व्यवहारिक में प्रातिभासिक है, प्रातिभासिक जो स्वप्न कल्पित आदि है उसमें व्यवहारिक का भान नहीं होता तो भी प्रातिभासिक व्यवहारिक में ही होता है। जैसे अंधेरे में सूखा पेड़ के ठूंठ को देख कर मनुष्य को ठूंठ होने का बोध नहीं होता है कोई चोर अथवा भूत है ऐसा समझकर डरता है, जब किसी ने कहा अथवा विजली की बत्ती से देखा तो मालूम हुआ कि पुरुष नहीं है; लकड़ी का ठूंठ है, भ्रान्ति हुई थी। भ्रान्ति का पुरुष वास्तविक नहीं था उसमें "है" "दीखता है" और "अप्रिय है" ऐसा जो था वह लकड़ी के ठूंठ में लय होगया—चढ़ गया। लकड़ी का ठूंठ है लकड़ी का ठूंठा दीखता है लकड़ी का ठूंठ अप्रिय है ऐसा हो गया, इसी प्रकार झाग के धर्म का लय तरंग में हो जाता है।

प्रातिभासिक जीवस्य,
लयस्युर्व्यावहारिके।
तल्लये सच्चिदानंदाः,
पर्यवस्यन्ति साक्षिणि ॥४६॥

अर्थः—इसी प्रकार प्रातिभासिक जीव का लय होने पर सत् चित् आनन्द धर्म व्यवहारिक जीव में ठहरते हैं और उसका भी लय हो जाने पर साक्षी में समाप्ति होती है।

विवेचन।

जैसे झाग के धर्मों का लय तरंग में और तरंग के धर्मों का लय जल में होता है ऐसे प्रातिभासिक जो स्वप्न आदि भ्रान्ति स्वरूप है उसमें दीखते हुये सत् चित् आनन्द धर्मों का लय व्यवहारिक चिदाभास रूप जो जीव है उसमें होता है और जब स्वस्वरूप जो साक्षी है उसका बोध होता है तब

व्यवहारिक सत्ता में से पारमार्थिक सत्ता में पहुँचते हैं इस समय पर व्यवहारिक चिदाभास और उसमें दीखते हुये सत् चित और आनन्द धर्मों का लय पारमार्थिक साची में होता है। जैसे भ्रांति के धर्म सहित भ्रांति का लय जाग्रत जीव में होता है, इसी प्रकार जब स्वस्वरूप का बोध होता है तब व्यवहारिक जीव सहित उसके धर्म का लय अन्तिम साची में हो जाता है। साची ही सब का अन्तिम आधार होने से उसमें ही सब का पर्यवसानहै।

स्वप्न कल्पित और भ्रांति के व्यवहार में अनेक भेद होते हैं यह सब सत चित् और आनन्द से युक्त होते हैं वे बदल कर जाग्रत अवस्था वाले जीव में अन्य ही भिन्नता युक्त होते हैं और स्वस्वरूप के बोध में सबका लय एक रूप अद्वैत में होता है।

स्वप्न प्रतिदिन होते रहते हैं, स्वप्न निवृत्त होता है तब उसमें रहे हुये सत् चित और आनन्द का लय अन्य कहीं न होते हुये जाग्रत जीव में ही होता है क्योंकि स्वप्न ही जिसका आधार है वह न रहने से उसके धर्म भी नहीं रहते और स्वप्न का आधार जो जाग्रत जीव है वह रहता है यह अनुभव सब किसी को है इसी प्रकार पारमार्थिक साची में जाग्रत जीव और उनके धर्मों का लय समझना चाहिये।

स्वप्न होता है और निवृत्त होता है परन्तु जाग्रत जीव का ऐसा नहीं है। जाग्रत जीव अनादि अविद्या से है, जब उस अविद्या का नाश होय तब ही साची में सबका पर्यवसान होता है। कोई कहे कि जैसे स्वप्न निवृत्त हो जाता है ऐसे स्वप्न में जाने से जाग्रत भी निवृत्त हो जाता है उसका उत्तर यह है जाग्रत का अभान स्वप्न दोष से है जाग्रत की निवृत्ति नहीं हुई है क्योंकि जन्मा हुआ शरीर और उसके सब भाव दबे हुये रहते हैं और स्वप्न के अनन्तर भी जाग्रत के व्यवहार का सिलसिला चलता रहता है।

मुमुक्षु, अनादि अज्ञान से निवृत्त होना चाहते हैं, परन्तु अभी अज्ञान में हैं, इससे जब तक दृढ़ स्वस्वरूप के बोध की प्राप्ति न होय तब तक शास्त्र वचनों के अनुसार सबका लय साची में होता है ऐसा मान कर ज्ञान में प्रवृत्त होना चाहिये। जब श्रवण मनन और निदिध्यासनादि ज्ञान के अभ्यास से उपासना से अथवा निर्विकल्प समाधि से आत्म साक्षात्कार होता है तब उसे प्रत्यक्ष बोध होता है कि शास्त्र में जिस प्रकार सब का लय साची में कहा था वह ठीक ही है, एक परमतत्त्व सच्चिदानन्द ही शेष रहता है।

जैसे नदी के पास के खड्डे का पानी नदी में जाता है तब खड्डे का गदलापन भी उसी में चला जाता है, नदी में गदलापन नहीं रहता और जब नदी बढ़ती है तब नदी का पानी खड्डा में जाता है इस प्रकार खड्डा रूप प्रातिभासिक है और नदी व्यवहारिक है। नदी का पानी जब समुद्र में जाता है तब वहां से लौट कर फिर नदी में नहीं आता। समुद्र पारमार्थिक है इस प्रकार जब प्रातिभासिक सहित व्यवहारिक का लय साची में होता है तब वहां से फिर लौट कर व्यवहारिक में नहीं आता। इस पारमार्थिक की प्राप्ति ही अन्तिम प्राप्ति है जिसे परमपद कहते हैं जब सब की साची में अद्वैत रूप से स्थिति होती है तब साध्य की अपेक्षा रहित उसे साची भी नहीं कह सकते वह स्वयम् सिद्ध तत्त्व ही है।

प्रातिभासिक आदि स्वप्न हो होकर लय को प्राप्त हो जाते हैं एक ज़िंदगी में हज़ारों से भी

अधिक समय इस प्रकार हुआ ही करते हैं, परन्तु व्यवहारिक जीव का लय हुआ अज्ञानी जीवों के अनुभव में नहीं आता क्योंकि व्यवहारिक जीव का साक्षी में लय एक ही समय होता है, स्वप्नादिक के समान हो होकर निवृत्त नहीं होता। अनादि अविद्या से व्यवहारिक सत्ता को प्राप्त है जब अनादि अज्ञान की निवृत्ति होती है तब स्वस्वरूप ही शेष रहता है इस स्वरूप में से हटा कर व्यवहारिक सत्ता में लाने वाला कोई हेतु ही नहीं रहता, इसीसे व्यवहारिक सत्ता में रहने वाले जीव को पारमार्थिक सत्ता में सबका लय होने का अनुभव नहीं हो सकता।

शंका:—जैसे व्यवहारिक और प्रातिभासिक सत्ता बदला करती है इसी प्रकार पारमार्थिक सत्ता भी बदल कर जीव और कोई उच्च अवस्था को प्राप्त होता होगा ?

समाधान:—साक्षी में जो स्थिति है वह अद्वैत अखंड परब्रह्म में ही स्थिति है इससे और कोई उच्च अवस्था नहीं है वहां परिछिन्नत्व न होने से वहां से कभी भी अन्य अवस्था में आना नहीं होता, यह ही परमपद है, सर्वाधार है।

शंका:—जब साक्षी ही व्यवहारिक अवस्था का जीव हुआ है तब ऐसे ही स्वरूप की प्राप्ति के पश्चात् फिर व्यवहारिक जीव क्यों न होगा ? परिछिन्नत्व प्रथम भी वहां नहीं था।

समाधान:—साक्षी व्यवहारिक जीव हुआ ही नहीं है। अविद्या से केवल व्यवहारिक जीव होने का भास होता है। शुद्ध स्वरूप कभी भी अविद्या से विकार को प्राप्त नहीं होता, अविद्या की समूल निवृत्ति से जीव व्यवहार में नहीं आता क्योंकि अविद्या की निवृत्ति के बाद व्यवहार का भान होने का कोई हेतु ही नहीं रहता।

शंका:—शुद्ध साक्षी में प्रथम अविद्या नहीं थी फिर अविद्या में आकर जीव हुआ, तब शुद्ध होने के बाद भी अविद्या फिर से लग जायगी ?

समाधान:—ऐसा नहीं होता। अविद्या कब की है उसका पता न होने से काल्पनिक अनादि है, इसी से शुद्ध साक्षी को अविद्या लग गई, ऐसा नहीं कह सकते। अविद्या को अनादि और सान्त भी कहा है इसी से काल्पनिक अनादि होते हुये भी सान्त हो जाती है। स्वस्वरूप का बोध होने के पश्चात् कभी भी अविद्या आ नहीं सकती। ज्ञान से समूल सान्त हो जाती है।

इस प्रकार साक्षी में स्थिति करा कर ग्रन्थकार ग्रन्थ की समाप्ति करते हैं। अनेक युक्तियों से जिसमें समझाया गया है ऐसा यह वाक्य सुधा—अमृत योग्य मुमुक्षु अधिकारियों को श्रवण, मनन, और निदिध्यासन से जगत की, जगत के अनेक प्रकार के दुःखों की, संपूर्ण अज्ञान की जड़ सहित निवृत्ति करता है और परमानन्द जो प्रत्येक का स्वस्वरूप है उसकी प्राप्ति कराने वाला है। संसार में त्रिविध ताप से तपे हुये मुमुक्षुओं को अमृत की वर्षा से शीतल करने वाला, परमानन्द को देने वाला यह वाक्य सुधा अलौकिक अमृत है।

❀ समाप्त ❀



आत्मोपदेश।

शास्त्र प्रतिष्ठा गुरु वाक्य निष्ठा,
सदात्मदृष्टिः परितोष पुष्टिः।
चतस्त्र एता निवसन्ति यत्र,
सवर्तमानोऽपि न लिप्यतेऽघैः ॥१॥

अर्थः—शास्त्रों का भली प्रकार ज्ञान हो और गुरु के वाक्य में निष्ठा हो; सदा जगत् को आत्मा रूप से ही देखता हो और अटल संतोष हो, ये चार बातें जिसमें मौजूद हों वह कर्म करता प्रतीत होवे तो भी उसको पाप का स्पर्श नहीं होता।

उद्देश्य भेदेन विधेय भेदे,
शास्त्राण्यनेकानि भवन्ति तावत्।
तत्रास्ति कैराद्रियमाण मेव,
विभावनीयं परमार्थ सिद्ध्यै ॥२॥

अर्थः—भिन्न २ उद्देश को लेकर भिन्न २ उपदेश होता है और इसी प्रकार से नाना शास्त्रों की उत्पत्ति हुई है, इसलिये आस्तिक पुरुष को चाहिये कि अपने परमार्थ की सिद्धि काल में उन सबकी ओर आदर भाव रखे।

व्याख्याबलेनाभिनिवेशभाजा,
प्रमेय भेदो बहुधाभ्युदेति।
तत्रास्ति मात्सर्य कलंक मुक्ता,
मुक्तावदाता धिषणा प्रमाणम् ॥३॥

अर्थः—अनुराग से युक्त होकर विद्वत्ता के बल व्याख्या करने ही से तत्त्व के ज्ञान में मत भेद उदय होता है। ऐसे समय जिसकी बुद्धि मत्सर के दूषण से रहित, समान और शुद्ध हो वही प्रमाण है।

तर्कोऽप्रतिष्ठो श्रुतयो विभिन्ना,
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येनगतः स पन्थाः ॥४॥

अर्थः—तर्क से तो पदार्थ का ज्ञान ही नहीं होता श्रुतियों का आपस में विरोध देखा जाता है, कोई एक भी ऐसा मुनि है नहीं, जिसका वचन हम सर्वथा प्रमाण मान सकें, और धर्म तत्त्व तो अत्यंत गूढ़ है, ऐसी अवस्था में महापुरुष जिस मार्ग से चलते हों, उसी मार्ग से जाना यही ठीक है।

अनेक शास्त्रार्थ विमर्शनेन,
तत्तन्महाव्यक्ति निदर्शनेन।
त्रैकालिकज्ञान विकस्वरेषु,
महाजनत्वं गुरुषूपदिष्टम् ॥५॥

अर्थः—नाना शास्त्रों को अच्छी तरह से पढ़ लेने से तथा उनमें जिसको महाव्यक्ति बताया है उससे (यह जान पड़ता है कि) तीनों काल का ज्ञान रखने वाले गुरुओं को ही महाजन बतलाया गया है।

यदेक तत्पुत्र कलत्र मित्र—
विद्वेष्युदासीन चराचरंहि।
तन्नामरूपाख्य विकार वर्जं,
ब्रह्मेति वेदान्तविदो विदन्ति ॥६॥

अर्थः—जो (परब्रह्म) एक है वही पुत्र, स्त्री, मित्र, शत्रु उदासीन तथा सब चर और स्थिर जगत्

रूप से भासता है; वही नाम रूप के विकार से रहित ऐसा ब्रह्म है, ऐसा वेदान्त के जानने वाले कहते हैं।

तदात्मरत्नं न बहु श्रुतेन,
नवा तपोराशि बलेन लभ्यं।
प्रकाशते तत्तु गुरूपदिष्ट—
ज्ञानेन जन्मान्तर खण्डकेन ॥७॥

अर्थः—वह आत्मा रूपी रत्न, विद्वत्ता या पांडित्य प्राप्त करने से नहीं लाभ होता, और बहुत तप करके उसके बल से भी आत्म ज्ञान नहीं होता; परन्तु श्रीगुरु के उपदेश से उत्पन्न हुए ज्ञान से वह आत्म तत्त्व प्रकट होता हैं जिससे फिर जन्म नहीं होता।

जात्यागुणेन क्रियया च सम्यक्,
गत प्रमादो विदधद्विधेयम्।
लभेत यत्तेन सदैव तुष्यन्,
यतेत भाग्यार्पित कार्यकायः ॥८॥

अर्थः—जन्म, गुण और कर्म के अनुसार, प्रमाद न करते हुए विहित कर्म ठीक २ किया करे। उस द्वारा जो कुछ प्राप्त हो उसीमें सदा संतुष्ट रह कर देह को प्रारब्ध के ऊपर छोड़ कर (आत्म प्राप्ति के लिये) यत्न किया करे।

निष्कामचित्तेन किलैकतानः
परामृशन्वस्तु गुरूपदिष्टम्।
उदार भावो रचयेत सौख्यं,
परं परेषामपि किंस्वनिष्ठम् ॥९॥

अर्थः—निष्काम चित्त से एकाग्रता पूर्वक गुरुके उपदेश के अनुसार उदार बुद्धि वाला पुरुष पर से भी पर ऐसे आत्मा में रहे हुए सुखकी भावना करे।

॥ इति आत्मोपदेश ॥

नारद परिव्राजकोपनिषत्।

(गतांक से आगे)

नारदजी ने ब्रह्मजी से प्रश्न किया, 'भगवन्' आपने पहिले संन्यास को सब कर्मों के निवृत्ति रूप बताया था और फिर आप बताते हैं कि संन्यासी अपने आश्रम के अनुसार कर्माचरण करता रहे, (इससे आपका क्या अभिप्राय है?)

पितामह बोले, 'देहधारी जीवों की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ऐसी चार अवस्थाएं होती हैं, उनकी अवस्था के अनुसार वे कर्म, ज्ञान या वैराग्य की प्रवृत्ति वाले होते हैं और वैसे ही उनके आचार होते हैं।'

नारदजी बोले, 'ऐसा है तो संन्यास के कितने प्रकार हैं, और उन भिन्न २ प्रकार के संन्यासियों के आचार में क्या २ अंतर होता है वह सब कृपा करके सुनाइये।'

इसके उत्तर में ब्रह्माजी ने नारदजी से संन्यास के भेद इस प्रकार कहे—

संन्यास वास्तव में तो एक ही है, परन्तु अज्ञान, दुर्बलता और विहित कर्मों के त्याग के कारण वह प्रथम तीन प्रकार का और पश्चात् चार प्रकार का होता है; वैराग्य संन्यास, ज्ञान संन्यास, ज्ञान वैराग्य संन्यास, कर्म संन्यास। जिसका पूर्व जीवन अधर्ममय हो परंतु पश्चात् शुभ कर्मों के उदय से जिसको वैराग्य प्राप्त होजाय उसका संन्यास, वैराग्य संन्यास कहा जाता है। शास्त्रों द्वारा स्वर्ग नरक के भोगों का अनुभव सुन कर संसार से जो उपराम को प्राप्त होता है और क्रोध, ईर्षा, असूया, अहंकार, अभिमान आदि रूप सब संसार से निवृत्त होकर, दारेसणा

(स्त्री की वासना), धनेषणा, लोकेषणा (स्वर्गादि की वासना) रूप देह वासना, शास्त्रवासना और लोकवासना का त्याग कर, प्रकृति का बना हुआ जितना जो कुछ है, सब वमन (कै) किये हुए भोजन के समान त्याज्य है; ऐसा समझकर साधन चतुष्टय संपन्न होकर जो संन्यास ग्रहण करता है, उसको ज्ञान संन्यासी कहते हैं। क्रम से सब का अभ्यास और अनुभव करते हुए ज्ञान वैराग्य और स्वरूपानुसन्धान से जिसका केवल देह ही शेष रहा हो अर्थात् जिसकी कहीं भी आसक्ति न रही हो, जो संन्यास लेकर नग्न रहता है वह ज्ञान वैराग्य संन्यासी है। ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम के समाप्ति के पश्चात् वैराग्य न होते हुए ही आश्रम क्रम से जो संन्यास धारण करता है वह कर्म संन्यासी है। वैराग्य संन्यासी ब्रह्मचर्य से संन्यास लेता है और संन्यास अवस्था में नग्न ही रहता है।

विद्वत् संन्यासी, ज्ञान संन्यासी, विविदिषा संन्यासी और कर्म संन्यासी (ऐसे भी संन्यास के चार विभाग हैं)। कर्म संन्यास दो प्रकार का होता है: निमित्त संन्यास और अनिमित्त संन्यास। आतुर संन्यास को निमित्त संन्यास और क्रम संन्यास को अनिमित्त संन्यास कहते हैं। आतुर संन्यास में सब कर्मों का लोप होता है और प्राण छूटने के समय वह लिया जाता है, इसको निमित्त संन्यास कहते हैं। मन को दृढ़ करके जितना जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वह सब अवश्य नष्ट होगा, इसलिये देह आदिक सर्व हेय (त्यागने योग्य) है: सूर्य लोक में रहने वाला हंस (आत्मा), अंतरिक्ष में रहने वाले वसु, वेदी के पास बैठने वाला होता, तथा कठिन मार्ग चलने वाला पथिक, वैसे ही ब्रह्मलोक इंद्रलोक में विष्णुलोक और अंतरिक्ष में रहने वाले, तथा जल, पृथ्वी, तेज, नदियां पहाड़ आदि में उत्पन्न हुए जीव यह सब नश्वर हैं केवल सत्य स्वरूप और महान ब्रह्म ही नित्य है, ऐसा निश्चय करके पश्चात् क्रम पूर्वक जो संन्यास ग्रहण किया जाता है वह अनिमित्त संन्यास है।

संन्यास और छः प्रकार का होता है:—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत।

कुटीचक संन्यासी शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड और कमंडलु रखता है। लंगोटी पहिनता है और ओढ़ने के लिये कंथा (गुदड़ी) भी रखता है। वह माता पिता और गुरु इनकी सेवा करता है। खप्पर, कुदाली और छींका रखता है और मंत्र जपता है एक ही स्थान पर रहता है और सफेद ऊर्ध्व तिलक धारण करता है और तीन दंड रखता है।

बहूदक संन्यासी शिखा, यज्ञोपवीत, दंड, कमंडलु, कौपीन और कंथा रखते हैं, त्रिपुण्ड धारण करते हैं और सब बातों में कुटीचक के समान होते हैं वह मधुकरी मांग कर केवल आठ ग्रास ही भोजन करते हैं।

हंस जटा रखते हैं त्रिपुण्ड और ऊर्ध्व पुण्ड दोनों प्रकार के तिलक लगाते हैं, पूर्व संकल्प न करते हुए मधुकरी मांग कर खाते हैं और कमर में एक वस्त्र भी पहिनते हैं।

परमहंस संन्यासी शिखासूत्र रहित होता है, वह प्रतिदिन पांच घरों में से अन्न हाथ ही में भिक्षा मांग कर खाता है (पात्र नहीं रखता); एक लंगोटी और ऊपर लपेटने के लिये एक शाटी (वस्त्र) तथा

एक बांस का दंड धारण करता है। वह या तो एक शाटी रखता है नहीं तो शरीर में भस्म लगा लेता है, और कुछ भी पास नहीं रखता।

तुरीयातीत संन्यासी गाय के समान मुख ही से फल आदि खाता है। यदि वह अन्न खाय तो तीन ही घर मांग कर खाय, वह दिगंबर रहता है, कुछ भी पास नहीं रखता। उसके शरीर का निर्वाह मृत देहवत् होता है यानी वह निर्वाह के लिये चेष्टा नहीं करता।

अवधूत के लिये कोई नियम नहीं है। वह दुराचारी और पतित इनको छोड़ कर किसी भी वर्ण से विना प्रयत्न किये हुये जो कुछ प्राप्त हो वही खा लेता है।

आतुर सन्यासी यदि जीवित रहे तो उसको क्रम संन्यास का आचरण करना चाहिये। कुटीचक, बहूदक और हंस, इनका संन्यास विधि ब्रह्मचर्य से संन्यास लेने वाले के समान ही होता है। (ये तीन वास्तविक संन्यास नहीं हैं, ये संन्यास की तय्यारी की अवस्थाएं हैं; इसीसे इनमें शिखासूत्र का त्याग नहीं होता।) परमहंस तुरीयातीत और अवधूत ये करधनी, लंगोटी, वस्त्र, कमंडलु, दंड कुछ भी नहीं रखते। उनको सब वर्णों से भिक्षा मांगकर खाना चाहिये और नग्न रहना चाहिये।

संन्यास लेने के पश्चात् भी जहां तक तृप्ति न हो वहीं तक शास्त्राध्यन करना चाहिये, शान्ति लाभ होते ही कटिसूत्र, कौपीन, वस्त्र, कमण्डलु आदि जल में बहा दे, कन्था भी न रखे। न कुछ पढ़े, न सुने; केवल प्रणव का उच्चारण किया करे। तर्क न पढ़े, न व्याकरण पढ़े। अधिक बोले नहीं; क्योंकि उसके लिये अधिक बोलना व्यर्थ वाणी को कष्ट देना ही है। हाथ से इशारे करके अथवा और किसी प्रकार से भी न बोले। शूद्र, स्त्री, पतित अथवा रजस्वला स्त्री से यति भाषण न करे। वैसे ही यति देवपूजा भी न करे, उत्सव न देखे और यात्रा भी न करे।

यतियों के लिये ये भी नियम हैः—कुटीचक एक स्थान ही से पूरी भिक्षा करले, बहूदक माधुकरी करके पर्याप्त भोजन करे। हंस आठ घर से आठ ग्रास मांग लावे; परमहंस पांच ही घर भिक्षा मांगे और पात्र न रखे, हाथ ही में भिक्षा करे। तुरीयातीत गाय के समान मुख ही से फलाहार करे और अवधूत अजगर वृत्ति रखें यानी विना प्रयत्न जो कुछ आ पहुँचे उसीका आहार करे। किसी भी (सार्ववर्णिक) ग्राम में यति एक दिन से अधिक न रहे, न वह किसी को नमस्कार करे। तुरीयातीत और अवधूत से कोई बड़ा नहीं है; परन्तु जो स्वरूप ज्ञान से रहित है वह बड़ा होते हुए भी छोटा ही है। यति हाथों से नदी तैर कर न जाय न कभी पेड़ पर चढ़े, न यान (सवारी) में बैठे। यति क्रय विक्रय न करे वैसे बदला भी न करे। वह दम्भ न करे, न कभी असत्य भाषण करे। यति के लिये कर्तव्य कुछ भी नहीं है और यदि वह कुछ करेगा तो अवश्य उसका पतन होगा; इसलिये सन्यासियों को केवल मनन आदि का ही अधिकार है।

आतुर और कुटीचक को भूलोक की प्राप्ति होती है; बहूदक को स्वर्ग लोक की, हंस को तपोलोक की, परमहंस को सत्य लोक की और तुरीयातीत और अवधूत को भ्रमर जैसा एक फूल से दूसरे फूल पर जाता है वा कीट एक पत्ते से अन्य पत्ते पर जाता है वैसे, (इस देह के छूटते ही) स्वरूपानुसंधान से आत्मा में कैवल्य की प्राप्ति होती है।

"जिस २ भाव का स्मरण करते हुए जीव देह का त्याग करता है, उस २ भाव ही को वह प्राप्त होता है। श्रुति का कथन अन्यथा नहीं हो सकता।"

इसलिये, यह जान कर यति स्वरूपानुसंधान को छोड़ कर और कुछ भी न करे; क्योंकि और कोई भाव होने से उस लोक की प्राप्ति होगी, और ज्ञान वैराग्य संपन्न हो, उसको उसी देह में मुक्ति होती है; इसलिये और किसी के आचार में यति को आसक्ति न होना, यही उसका आचार होना चाहिये।

जिसका जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में एक ही शरीर है वही आत्मा जाग्रत् काल में विश्व, स्वप्न काल में तैजस् और सुषुप्ति काल में प्राज्ञ बनता है। अवस्था भेद से अवस्था के अधिपति का भेद होता है और कार्य भेद ही से कारण भेद होता है।

अपूर्ण।

ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका।

(गतांक से आगे)

वैधर्म्याच्चन स्वप्नादिवत्॥२।२।२६॥

अन्वय और अन्वयार्थः—**च** और **वैधर्म्यात्** विरुद्ध धर्मी होने के कारण **स्वप्नादिवत्** स्वप्न आदि के (ज्ञान के) समान (जाग्रत अवस्था का ज्ञान बाह्य पदार्थ के अवलंबन विना का) **न** नहीं होता।

टीकाः—बाह्य पदार्थों का अस्तित्व न मानने वाले ने जो कहा है कि 'स्वप्न के ज्ञान के समान जाग्रत अवस्था का स्तंभ आदि का ज्ञान भी बाह्य पदार्थों के अभाव में हो सकता है; क्योंकि प्रत्ययत्व यानी ज्ञान का होना दोनों में एकसा ही है,' उसका खंडन करना आवश्यक है। इस विषय में हमारा कहना यह है कि जाग्रत का ज्ञान स्वप्न के ज्ञान के समान नहीं होता, क्योंकि, दोनों अवस्था के धर्म एक दूसरे से विरोधी हैं। इसलिये जाग्रत का ज्ञान और स्वप्न का ज्ञान इनमें वैधर्म्य है। कौनसा वैधर्म्य है? बाध होना और बाध न होना। स्वप्न में प्राप्त हुई वस्तु का जाग्रत अवस्था प्राप्त होने पर बाध होता है, जैसे, 'मुझे संत समागम लाभ हुआ था वह मिथ्या था, वास्तव में मुझे संत समागम हुआ नहीं था, परन्तु निद्रा के कारण मेरा मन शिथिल हुआ था, इसलिये मुझे ऐसी भ्रांति हुई' (इस प्रकार का अनुभव सबको होता है)। जादू से देखी हुई वस्तुओं का भी इसी प्रकार बाध होता है, परन्तु जाग्रत अवस्था में मिलने वाली स्तंभादि वस्तुओं का अन्य किसी अवस्था में बाध नहीं होता। स्वप्न के पदार्थ स्मृति से दीखते हैं और जाग्रत अवस्था में पदार्थ का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। स्मृति और अनुभव का भेद सब अपने अनुभव से जानते हैं। वह यह है कि प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ सीधा संबंध होता है और स्मति का पदार्थ से प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता। जैसे 'मुझे मेरे प्रिय पुत्र की स्मति आती है परन्तु मुझे वह प्राप्त नहीं होता मैं उसको प्राप्त करना चाहता हूं।' इस प्रकार दोनों अवस्था के भेद का सबको अनुभव है। तो भी जाग्रत का ज्ञान है वैसा स्वप्न का भी ज्ञान ही है, इतने ज्ञानत्व के सादृश्य से वह (जाग्रत का पदार्थ) मिथ्या है ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं है; क्योंकि बुद्धिमान पुरुष अपने अनुभव का निषेध करना योग्य नहीं समझते।

जाग्रत अवस्था का अनुभव स्वयं निराधार है, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि यह अनुभव के विरुद्ध है। स्वप्न के ज्ञान के समान वह भी ज्ञान ही है, इतने ही सादृश्य से जाग्रत् अवस्था के ज्ञान को निराधार कहना चाहते हो; परन्तु जिसका जो स्वयं धर्म नहीं है उसके अन्य पदार्थ के साथ साधार्म्य (समानता) के कारण वह उसमें आ नहीं सकता। अग्नि उष्ण है, उसका उदक के साथ (कुछ अंश में) साधर्म्य होने से वह शीत नहीं हो सकता।

स्वप्न और जाग्रत का वैधर्म्य तो पहिले बता चुके हैं॥ २९॥

न भावोऽनुपलब्धे ॥२।२।३०॥

अन्वय और अन्वयार्थः—अनुपलब्धे

बाह्य वस्तु के ज्ञान के अभाव से **भावः** (वासना की) उत्पत्ति **न** नहीं हो सकती।

टीकाः—"बाह्य वस्तु के अभाव में ही केवल वासना की विचित्रता के कारण भिन्न २ प्रकार का ज्ञान होता है, ऐसा जो पहिले प्रतिपादन किया गया है, उसका अब खंडन करना चाहिये। उसके विषय में हम कहते हैं कि तेरे मत में वासना का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध होता क्योंकि तेरे मत में बाह्य पदार्थ ही का अभाव है। बाह्य पदार्थ ही के कारण वास्तव में भिन्न २ प्रकार की वासनाएं होती हैं, परन्तु यदि बाह्य पदार्थ ही न हों तो नाना प्रकार की वासना किस कारण से होंगी? वासना अनादि है ऐसा माने तो उससे अंध परंपरा न्याय से प्राप्त निर्मूल अनवस्था दोष का (यहां अनवस्था निर्मूल इसलिये कहा है कि कारण के प्रत्यक्ष होते उसका इन्कार करके अनवस्था दोष लाकर फिर अनादि कह कर उस अनवस्था का परिहार करना) परिहार होता है अभिप्राय की सिद्धि नहीं होती। वैसे ही बाह्य वस्तु का निषेध करने वाले (बौद्ध) वासना ही से ज्ञान समूह उत्पन्न है, वस्तु से नहीं, इस प्रकार का जो अन्वय व्यतिरेक प्रतिपादित करते हैं उसकी भी इसी से सिद्धि नहीं होती ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि अर्थ न हो तो वासना उत्पन्न ही नहीं होती। वासना के अभाव में अर्थ उपलब्ध होता है परन्तु अर्थ के अभाव में वासना की उत्पत्ति नहीं होती, इस अन्वय व्यतिरेक से भी बाह्य अर्थ का अस्तित्व ही सिद्ध होता है। वास्तव में देखा जाय तो वासना एक विशेष प्रकार का संस्कार ही है और संस्कार उसके आश्रय के बिना नहीं संभवते ऐसा ही जगत् में देखा जाता है और तेरे पक्ष में वासना का कोई आश्रय ही नहीं है; क्योंकि उस आश्रय (बाह्य वस्तु) की तेरे मत में किसी प्रमाण से सिद्धि नहीं होती॥३०॥

क्षणिकत्वाच्च ॥२।२।३१॥

अन्वय और अन्वयार्थः—च

और (आलय विज्ञान) **क्षणिकत्वात्** क्षणिक होने से (वह वासना का आश्रय नहीं हो सकता)।

टीकाः—जिस आलय विज्ञान ('मैं जानता हूँ' इस प्रकार का ज्ञान) को तूने वासना का आश्रय माना है, उसको तूने क्षणिक माना है, अर्थात् उसका स्वरूप ही अस्थिर है। इसलिये प्रवृत्ति विज्ञान (यह घट है, ऐसा ज्ञान) के समान आलय विज्ञान भी वासना का आश्रय नहीं बन सकता और जिसका तीनों कालों से संबंध है और जिसका स्वरूप कार्य

में बना रहता है, ऐसा कोई एक पदार्थ स्थिर न हो अथवा सब पदार्थों का साक्षी रूप ऐसा कूटस्थ आत्मा न हो, तो देश काल और कारण इन से संबंध रखने वाली वासनाओं के अधीन रहे हुए स्मृति प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) आदि व्यवहार बन नहीं सकते। यदि आलय विज्ञान स्थिर है ऐसा कहे, तो तेरे सिद्धांत की हानि होगी। सब पदार्थ क्षणिक हैं, यह सिद्धांत विज्ञानवादियों को भी संमत होने से बाह्यार्थ वादियों के खंडन में क्षणिक को लेकर 'उत्तरोत्पादेच पूर्व निरोधात्' (ब्र० सू० २।२। २०) आदि सूत्रों में जो दोष दिखाये है वे विज्ञानवाद को भी प्राप्त हैं ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार बौद्धों के बाह्यार्थ-वाद और विज्ञानवाद इन दोंनो मतों का खंडन किया। अब रहा शून्य वाद; वह सर्व प्रमाण विरुद्ध होने से उसके खंडन को सूत्रकार आवश्यकता नहीं समझते क्योंकि, इस लोक का व्यवहार जो सब प्रमाणों से सिद्ध है, उसका हम वहां तक निषेध नहीं कर सकते जहां तक कि (उस निषेध के आधार भूत ऐसा) कोई नवीन तत्त्व प्राप्त न हो; क्योंकि अपवाद के अभाव में सामान्य नियम ही सिद्ध होता है ॥३१॥

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥२।२।३२॥

अन्वय और अन्वयार्थः—च और **सर्वथा** (बौद्ध दर्शन) सब प्रकार से **अनुपपत्तेः** युक्तिहीन होने से (वह आदरणीय नहीं है)।

टीकाः—अधिक क्या कहें ? यह बौद्ध दर्शन कहां तक युक्ति संगत हैं यह देखने के लिये हम जैसे २ नाना प्रकार से उसका परीक्षण करते हैं वैसे २ वह बालू के कुए के समान गिरता ही जाता है। इस दर्शन में हमें एक भी बात युक्ति सिद्ध नहीं दिखाई देती और बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद ऐसे तीन परस्पर विरुद्ध वादों का उपदेश कर सुगत (बुद्ध) ने या तो अपनी असंबद्ध प्रलापिता प्रकट की है या परस्पर विरुद्ध ऐसे सिद्धांतो के ज्ञान का प्रचार करा कर लोगों को अधिक मोह में डाल दिया है और इस प्रकार लोगों में द्वेष फैलाने की चेष्टा की है (ऐसा कहना पड़ता है) इसलिये अपना कल्याण चाहते वालों को इस मत का अत्यंत अनादर करना चाहिये ॥३२॥

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥२।२।३३॥

अन्वय और अन्वयार्थः—एकस्मिन् एक ही (वस्तु) में **असंभवात्** (अनेक विरुद्ध धर्मों का) असंभव होने से **न** (जैन दर्शन यथार्थ) नहीं है।

टीकाः—यहां तक सौगत (बौद्ध) मत का खंडन किया, अब जैन मत का निराकरण करते हैं। जैन सात पदार्थ मानते हैं, जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष। संक्षेप से कहना हो तो पदार्थ दो ही है; जीव और अजीव। शेष पांच पदार्थों का इन्हीं दोनों में यथायोग्य अंतर्भाव हो जाता है ऐसा वे मानते हैं। दोनों का ही के जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इस प्रकार पांच अस्तिकाय रूप विस्तार करते हैं। इन सब पदार्थों के और भी बहुत भेदों की कल्पना उनके शास्त्र में की गई है।

सब बातों में वे सप्तभंगी नय नाम का न्याय काम में लाते हैं वह न्याय इस प्रकार है—

अपूर्ण।

उपासना।

इस पुस्तक में साकार, सगुण, कार्य ब्रह्म की तथा कारण ब्रह्म की आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होता है, आत्म साक्षात्कार होता है और समाधि की प्राप्ति होती है।

इसमें यह दृष्टान्त आये हैं:—कुमार अवीक्षित और किमिच्छकं व्रत, ध्रुव की तपश्चर्या, धर्मनगर से मुक्तिनाथ तक जाने वाले दो मुसाफिर, गुलाम राजा बना, पांच मित्रों की मुसाफरी, अलौकिक मंदिर, समुद्र पार के देश का राजा, राजकुमार और राजकुमारी, महात्मा के उपदेश से साधु को ॐ दिखा दिया, अर्जुन और दुर्योधन और धात्री की कथा। इसमें उपासना, ब्रह्मोपासना, गायत्री, ॐकार और ब्रह्मतरंग हैं।

इस उपासना के अनुसार अभ्यास करके समाधि तक पहुँचे हुए और आत्म साक्षात्कार किये हुए मनुष्य इस समय भी मौजूद हैं। मूल्य—॥) डाक महसूल अलाहिदा।

वेदान्त केसरी सातवीं पुस्तक।

इसमें वेदान्त केसरी का प्रकाशन, मन को शुद्ध निर्मल और निश्चयात्मक करना चाहिये, गुरुदेव का अनुग्रह, ब्रह्म विद्या की आवश्यकता, अध्यात्म विद्या, हंस कृपा, स्वरूप की प्राप्ति अप्राप्ति से सुख दुःख, ब्रह्म नित्य अपरोक्ष है, सात कांच की ऐनक, ईश्वर भक्ति, तप से तत्त्व का अपरोक्ष, योग भोग, सच्चा सुख, अमृत विज्ञान, राग से भाग, भक्ति का स्वरूप, सत्य स्वरूप, योग और ज्ञान, भगवत कृपा, एक मुमुक्षु की चिन्ता, उन्नति, क्रिया योग, चोर का साथी गठकटा, अद्वैत निष्ठा, आत्मानुसंधान, पंच क्लेश, सच्चा मार्ग, कर्माशय, तू महान है, नास्तिक और संत का संवाद, भूल ही संसार है, सम्यक् दर्शन, माता का उपदेश इतने विषय हैं।

दृष्टांत—नवीन और विवेक, मणिशंकर और पिंडीशंकर, दो मनुष्यों की बात चीत, संत और मनुष्य, साधक, एक योगी, संन्यासी और राजा, मनुष्य और संत, दो मित्र, गुरु शिष्य, अमरफल, लड़का और साधु, नास्तिक और संत, तपोधन और महात्मा, दीर्घदर्शी और योगीराज, राजा और योगचन्द्र, राजा का स्वप्न, संत और मनुष्य, संत और शिष्य, मोहीलाल और श्रेयीलाल, सत्यव्रत हरिश्चन्द्र, मोहीलाल और संत, राजकुमार और यक्षणी, बीरचन्द्र और संत, कृष्णानंद का स्वप्न, पिता और शान्तिनाथ, बकरा और शेर, अस्तेयराम और महात्मा, मुमुक्षु और संत, योगी और महात्मा, संत और दो मुमुक्षु, साहूकार के चार पुत्र, श्यामसिंह और मुसाफिर, गृहस्थ के छः पुत्र, मनुष्य और दिव्य पुरुष, माया सुन्दरी और राजकुमार, भाट और बेगम, किसान पुत्र और राजकन्या, साधु और गले का फोड़ा, शिवभक्त पिता और नास्तिक पुत्र डिप्टी कलक्टर।

वाक्य सुधा—श्लोक १ से ३५ तक का विस्तृत विवेचन सहित है।

उपनिषत् भाषा—योग शिखोपनिषत्, पैङ्गलोपनिषत्, शांडिल्योपनिषत, कठरुद्रोपनिषत् भाषा में दिये गये हैं।

स्तोत्र—परा पूजा, तत्त्वमसि, शयन, अष्टाष्टकम्, कौपीन पञ्चक, विज्ञान नौका भाषा टीका सहित दिये गये हैं। प्रत्येक अंक में रोचक कविताएं भी दी गई हैं।

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका—अ० २ पाद १ सूत्र १६ से अ० २ पाद २ सू० २० तक हैं। बारह अंकों की जिल्द सहित पुस्तक का मूल्य ३) रु० पोस्टेज अलग।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।

REGD. NO. A. 1821

वेदान्त केसरी की छपी हुई पुस्तकें।

वेदान्त केसरी—पिछले सातों साल की जिल्द (प्रत्येक बारह अङ्कों की) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेष रही हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्य्य के अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त की प्रक्रिया आगई हैं।

अधिकारी के लक्षण, गुरु-शिष्य लक्षण, पंचकोष विवेक, जगत्, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, माया, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान, आसक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन महावाक्य, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, स्वाभाविकता से उठा करते हैं ऐसे चौबीस प्रश्नों के उत्तर, ब्रह्मसूत्र भाषादीपिका, (दूसरे अध्याय के प्रथम पाद के सूत्र १६ तक) विवेचन सहित मणिरत्नमाला और चर्पट पंजरिका, छोटे छोटे उपनिषद्, स्तोत्र आदि अनेक लेख आये हैं, जो बोलचाल की बहुत ही सीधी भाषा में युक्तिपूर्वक समझाये गये हैं।

प्रत्येक जिल्द में विषय को स्पष्ट करके समझाने वाले क़रीब पिचहत्तर २ दृष्टान्त दिये गये हैं। बहुत ही रोचक होने से पढ़ने को लेने के बाद पुस्तक छोड़ने को चित्त नहीं चाहता। सामान्य भाषा जानने वाले भी बारम्बार पढ़ने से आत्म-बोध प्राप्त कर सकते हैं। यह पुस्तकें रागी और त्यागी सब के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं, वार्ता के प्रेमियों की मित्र हैं, मुमुक्षुओं का प्राण हैं और ज्ञानियों को विनोदरूप हैं।

आज तक सभी भाषाओं में प्रकट हुए वेदान्त के ग्रन्थ, मासिक पत्र, लेख और व्याख्यानादि सब से ही यह पुस्तकें विलक्षण हैं।

प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३) सम्पूर्ण सैट यानी सातों पुस्तक का मूल्य २१)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप हैं। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≈)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी हैं। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य प्रति पुस्तक ॥) सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।

केसरी प्रेस, बेलनगंज आगरा में सूरजभान गुप्त द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।